

राष्ट्रीय एकता की बुनियादें

क्षितीश वेदालंकार

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान

राष्ट्रीय एकता की बुनियादे

लेखक

क्षितीश वेदालंकार

सम्पादक

‘आर्य जगत्’, नई दिल्ली

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान, रायबरेली

अकाशक :

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान

कार्य समाज रायबरेली (उ० प्र०)

पिन कोड—229001

दूरभाष—2243

अतिरिक्त वितरक :

(1) डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान

विज्ञान परिषद् भवन, महर्षि दयानन्द भार्गव

इलाहाबाद-211002

दूरभाष-54413

(2) गोविन्दराम हासानन्द

4408 नई सड़क, दिल्ली-110006

प्रथम संस्करण : 1990

मूल्य : 12/-

मुद्रक :

शरद प्रसाद पाण्डेय

नानरी प्रेस

अलोपीवान, इलाहाबाद

सम्पादक मण्डल

1. डॉ० प्रसन्न मिश्र शास्त्री
2. डॉ० ज्योत्सना कुमार शास्त्री
3. डॉ० शान्ति देवबासा
4. डॉ० उषा ज्योतिष्मती
5. डॉ० विमलेश

प्रकाशकीय

स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान को प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित करने में अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इसके लेखक “आर्य जगत्” के वसुन्दी सम्पादक और आर्य साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री क्षितीश वेद-संकार जी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में ‘आर्य जगत्’ में प्रकाशित १९८३ ई० के समस्त सम्पादकीयों का संकलन है। इसका मूल्य न केवल तात्कालीन है, अपितु ये हमारे साहित्य की स्थायी-निधि भी हैं और इनके माध्यम से आचार्य क्षितीश जी ने साहित्य को नई प्रेरणामें भी दी हैं। क्षितीश साहित्य के इस द्वितीय पुष्प के बाद भी हम उनके अन्य पुष्प भी प्रकाशित करेंगे, जो ‘आर्य जगत्’ के सम्पादकीयों के रूप में हमें मिले हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी पत्रकारिता जगत् और आर्य साहित्य प्रेमी इन लेखों का अवश्य रसास्वादन करेंगे।

श्रीमानाथ सिंह

मन्त्री

१३-१०-१९८०

सुशील कुमार अग्रवाल

अध्यक्ष एवं निदेशक

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. हिन्दू वोट का चमत्कार	१
२. आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की व्यर्थता	६
३. नए युग का सूत्रपात	११
४. टंकारा रजत जयन्ती	१७
५. टंकारा—एक स्वप्न-एक यथार्थ	२२
६. टंकारा—एक स्वप्न-एक यथार्थ (२)	२७
७. नई लहर का नया संकेत	३२
८. कार्य समाज को नया रूप दें	३७
९. कार्य समाज को नया रूप दें (२)	४२
१०. समाज मन्दिरों का उपयोग	४७
११. अग्नि-पथ का पथिक	५२
१२. किसान से कसाई तक	५८
१३. भिडरावाले का भूत	६४
१४. नया खुर्ची : नया तख्त	७०
१५. एक विवश सुझाव	७६
१६. बल्लूधारा और राष्ट्रीय एकता	८१
१७. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (१)	८५
१८. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (२)	
महानल ! एकज दे चिनगारी	८०
१९. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (३)	
भाषा जोड़ती या तोड़ती है	८५

२०. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (४)		
राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न	...	१००
२१. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (५)		
लोकतन्त्र और नैतिकता	...	१०५
२२. राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (६)		
युवा वर्ग और वीरदल	...	११०
२३. उच्चतम न्यायालय को बचाई	...	११५
२४. बोलबाला, मगर किसका ?	...	१२०
२५. ये हत्यारे हैं केवल हत्यारे !	...	१२६
२६. आसू के आसू की जय हो ?	...	१३२
२७. "लॉग लिव" लोंगोवाल	...	१३८
२८. श्रीकृष्ण के इस स्वरूप को कौन पहचानेगा ?	...	१४४
२९. देवता, मगर किस लोक के ?	...	१५०
३०. चक्रचरण की डायरी का एक पृष्ठ	...	१५६
३१. विदेशी गायों का आयात	...	१६२
३२. अँधेरी गली में सूरज की किरण	...	१६८
३३. इक्कीसवीं सदी का स्वर्ण	...	१७४
३४. राष्ट्र धर्म के पुरस्कर्ता श्रीराम	...	१७९
३५. रामायण के स्थानों का भौगोलिक परिचय	...	१८५
३६. एक नई योजना	...	१९४
३७. देर आयद दुस्त आयद	...	२००
३८. ये ताकते फिर सिर उठाने लगे	...	२०६
३९. आखिर हिन्दू कोई है भी ?	...	२१२
४०. समराज के दूत	...	२१८
४१. यह आस्थाहीन पीढ़ी	...	२२४

हिन्दू वोट का चमत्कार

इस बार लोकसभा के चुनाव में जिस तरह इंडा ने विजय प्राप्त की है, उसने सबको चकित कर दिया है। सब ज्योतिषी, सब अखबार वाले, और जनता की राय जानने के लिए लाखों रुपया खर्च करके आकलन करने वाली संख्याविद् संस्थाएं भी पूर्व अनुमान करने में सर्वथा विफल रहीं। इसको कहते हैं चमत्कार। स्वयं कांग्रेस के नेताओं की भी चमत्कार की न तो पूर्वकल्पना थी और नहीं कुछ आभास था। संसद में दो तिहाई बहुमत ही बहुत अधिक माना जाता है और इसी के आधार पर संसद से कोई भी निर्णय मनवाया जा सकता है। परन्तु तीन चौथाई बहुमत तो जैसे दिमाग को सातवें आसमान पर पहुँचा देने वाला है।

इस अभूतपूर्व चमत्कार के कारणों का विचारकों ने तरह-तरह से विश्लेषण किया है। भारतीय जनता को अनपढ़ और नासमझ समझने वाले तथाकथित बुद्धिजीवी भी यह देखकर गन्वा खा गये हैं कि इन गूंगे, जहालत के मारे, तरह-तरह के अन्ध-विश्वासों में फँसे और अपनी अत्यधिक गरीबी के कारण जीने के लिए संघर्ष करने वाले, जनता जनार्दन के नाम से सम्बोधित, इन करोड़ों लोगों में इतना आत्म-विश्वास कहाँ से छिपा हुआ था ! जैसे रात का अँधेरा अग-जग को अन्धकार के एक आवरण से ढँक देता है, किन्तु सूर्योदय होते ही अन्धकार पता नहीं कहाँ विलीन हो जाता है, उसी तरह भारतीय जनता

ने जैसे क्षितिज पर नया सूर्योदय देखकर दोनों हाथों से जल भर-भर कर अर्घ्य चढ़ाया है।

क्या यह इन्दिरा गांधी की हत्या से उत्पन्न आक्रोश की लहर थी या राजीव गांधी के लिए सहानुभूति की लहर थी ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्दिरा गांधी की हत्या ने जैसे सारे देश को लहलुहान कर दिया था। उसका आक्रोश और सहानुभूति की लहर भी अवश्य थी, परन्तु जिस लहर ने इतना बड़ा कहर बरपा कर दिया, वह इससे भी कहीं बड़ी लहर थी। वह बड़ी लहर जनता का यह विश्वास था कि इस देश के चुनाव में जीत कर लोकतांत्रिक विधि से प्रधानमन्त्री बने व्यक्ति की हत्या करके देश के मनोबल को गिराया नहीं जा सकता। पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक जो कांग्रेस को इतना बड़ा समर्थन मिला है, वह केवल कांग्रेस या राजीव गांधी के प्रति सहानुभूति के कारण नहीं मिला, वह इस कारण मिला है कि देश हत्या की राजनीति के सर्वथा विरुद्ध है ! और यह भी कि देश के नेता को मारकर लोकतन्त्र का जनाजा नहीं निकाला जा सकता।

स्वयं राजीव गांधी ने स्वीकार किया है कि इतना बड़ा बहुमत सहानुभूति की लहर नहीं थी, बल्कि भविष्य के प्रति जनता की आस्था थी। नहीं तो क्या स्वयं राजीव गांधी नहीं जानते कि वे स्वयं एक परिस्थिति की पैदावार हैं ? न वे पं० जवाहरलाल नेहरू हैं और न इन्दिरा गांधी हैं ? उनकी मां ने और उनके नाना ने देश में जितनी लोकप्रियता प्राप्त की थी, उनके पीछे पूरा उनका जीवन था। जबकि श्री राजीव गांधी का राजनीतिक जीवन तो अभी प्रारम्भ ही हुआ है।

अभी तक कांग्रेस हमेशा अल्पसंख्यकों के भरोसे उनके तुष्टिकरण के माध्यम से सत्ता में आती रही है। इस बार शायद पहला अवसर है जब अल्पसंख्यकों ने संगठित रूप से कांग्रेस के विरोध में वोट दिया है। अल्पसंख्यकों के इस कांग्रेस विरोधी रुख के कारण देश के जन-जन में यह मानसिक प्रतिक्रिया भी हुई है कि राष्ट्र के भविष्य को अगर बचाना है तो हमें ऐसी पार्टी को वोट देना है जो देश को स्थिर सरकार दे सके। सन् सतहत्तर में जनता पार्टी को वोट देकर भारत की जनता ने परख लिया कि इन तिलों में तेल नहीं है इसलिए अब वह उस प्रकार का परीक्षण करने को तैयार नहीं। गलती करना मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु उस गलती से जो शिक्षा ग्रहण नहीं करता वह मनुष्य अर्थात् मननशील प्राणी कहलाने योग्य नहीं है। भारत की जनता इतनी मननशील अवश्य है कि एक बार की हुई गलती को दुबारा न दुहराये। अल्प संख्यकों के विरोध का परिणाम यह हुआ कि बहुसंख्यकों ने जी भरकर कांग्रेस को वोट दिया। यह केवल हम ही नहीं कह रहे हैं, बल्कि जितने धरा-शायी दिग्गज नेता हैं, वे भी मन ही मन इस बात को पहचानते हैं और दलित मजदूर किसान पार्टी के नेता श्री चरण सिंह और कांग्रेस-ज के नेता श्री जगजीवन राम ने तो खुले बन्दों घोषणा की है कि इस बार कांग्रेस की इस चमत्कारी विजय में हिन्दू वोट ही कारण है। समस्त हिन्दुत्ववादी संस्थाओं ने, जिनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, आर्य समाज जैसी प्रगतिशील संस्था तथा अन्य हिन्दुत्ववादी और राष्ट्रवादी एकत्र हैं उन सबने खुलकर कांग्रेस के उम्मीदवारों का समर्थन किया। असल में कांग्रेस की इस चमत्कारपूर्ण विजय का श्रेय हिन्दू वोट के चमत्कार को है।

आज तक इस देश का ८५ प्रतिशत, और सबसे बड़ा घटक हिन्दू समाज न स्वयं अपनी शक्ति को पहचान सका और न राजनीतिक दलों ने हिन्दुत्व की शक्ति को पहचाना। शायद इस बार पहला अवसर था जब दोनों ने इस शक्ति को हृदयंगम किया है।

अगर हमारा यह विश्लेषण सही है तो भविष्य में कांग्रेस को अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण की आवश्यकता नहीं है। वह उनके वोटों के बिना भी भारी बहुमत से जीत सकती है। इसलिए इस समय कांग्रेस के सामने सबसे बड़ा उद्देश्य केवल होना चाहिये कि भविष्य में वह कभी हिन्दू हितों की उपेक्षा नहीं करेगी। आखिर अन्य पार्टियों की पराजय का कारण क्या है ? भारतीय जनता पार्टी जैसी हिन्दू-हितैषी समझी जाने वाली पार्टी ने भी अल्पसंख्यकों के वोट पाने के लिए हिन्दू हितों की बात कहनी छोड़ दी थी। बाकी सब पार्टियाँ तो निकली ही कांग्रेस से थीं। इसलिए वे तो सिवाय कांग्रेस की कार्बन कापी के और कुछ हो ही नहीं सकती थीं। इसलिए वे सब जितना-जितना कांग्रेस की 'तथाकथित असाम्प्रदायिकता' की ओर बढ़ती गईं, उतना-उतना देश का बहुमत उनसे कटता गया।

तो क्या इसका यह अर्थ है कि अब कांग्रेस हिन्दू साम्प्रदायिकता की शिकार हो गई है ? नहीं, हमारी बात को गलत मत समझिए। असलियत यह है कि सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त को कभी ठीक तरह से समझा ही नहीं गया। इतिहास, संस्कृति और व्यवहार—इन सब दृष्टियों से सम्प्रदाय-निरपेक्षता की कसौटी पर सही तौर से कोई उतरता है तो केवल हिन्दू समाज ही उतरता है। इसलिए निश्चिंक रूप से यह धोषणा की जा

सकती है कि जिस दिन यह देश हिन्दू-बहुल नहीं रहेगा, उस दिन यहाँ सम्प्रदाय-निरपेक्षता भी नहीं रहेगी। क्या हमारे सारे पड़ोसी देश इस बात के जीते-जागते उदाहरण नहीं हैं? संसार में और कौन सा देश है जो हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की तरह देश के सबसे बड़े गौरवास्पद पदों पर किसी गैर-हिन्दू को बिठाने का साहस कर सके? इसी दृष्टि से सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धांत को मानने वाले राष्ट्र में सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वह योग्यता को सम्प्रदाय से ऊपर स्थान दे और अल्प-संख्यकों के संरक्षण को यथायोग्य के व्यवहार में परिणत करे।

हम बार-बार यह कहते रहे हैं कि सम्प्रदाय-निरपेक्ष राष्ट्र में किसी साम्प्रदायिक पार्टी को राजनीतिक मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। फिर उसी बात को दुहराते हैं। श्री राजीव गांधी ने स्वयं इसके औचित्य को स्वीकार किया है और आम जनता की सहमति से इस पर अमल करने का आश्वासन दिया है। हम समझते हैं कि कांग्रेस की इस विजय में आम सहमति की वह बात अपने आप छिपी हुई है। इसी प्रकार हमारा कहना यह भी है कि इंडा को विजय दिलवा कर देश ने आनन्द-पुर प्रस्ताव के विरोध में जनमत प्रकट कर दिया है। इसलिए भविष्य में उस पर चर्चा नहीं होनी चाहिए। यों भी सरकारिया आयोग बन जाने के बाद वह सर्वथा अन्यथा सिद्ध हो चुका है।

हिन्दू वोट के इस चमत्कार को सही रूप में समझने का समय आ गया है।

[६ जनवरी, १९८५ ई०]

आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की व्यर्थता

श्री राजीव गांधी ने चुनावों में अभूतपूर्व विजय के पश्चात् जिस तरह दो दिन के अन्दर ही नये मंत्रीमण्डल का गठन कर लिया उससे यह पता लगता है कि वे किसी बात में अनावश्यक बिलम्ब के पक्षपाती नहीं हैं। इसके अलावा ५ तारीख के अपने भाषण में राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जिस आत्म-विश्वास के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं, उससे भी लगता है कि अनेक मुद्दों पर उनका दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है और पूरी सदाशयता के साथ वे नेता के बजाय एक 'वर्कमैन' की तरह देश को आगे ले जाने के कार्यक्रम तैयार करना चाहते हैं। मंत्रीमण्डल के गठन के पश्चात् उन्होंने सबसे अधिक महत्व जिस बात को दिया है वह पंजाब की समस्या है। हालांकि अपने चुनाव भाषणों में उन्होंने संकेत दिया था कि पंजाब की समस्या के समाधान के लिए उनके मन में कोई सूत्र है पर अब जिस तरह उन्होंने इस समस्या पर सुझाव देने के लिए एक मंत्रीमण्डलीय समिति का गठन किया है, उससे यह भी लगता है कि अपने मन के अलावा वे अपने मंत्रीमण्डल को और देश की जनता को भी उस महत्वपूर्ण निर्णय में अपने साथ रखना चाहते हैं। यह एक अच्छी शुरुआत है।

पंजाब की समस्या के समाधान में सबसे बड़ी बाधा आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव है। १९७३ में पारित यह प्रस्ताव जहाँ सिखों के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया, वहाँ सारे देश की

जनता के लिए भी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। इस बार के चुनावों में भले ही और कोई मुद्दा रहा हो या न रहा हो, परन्तु श्री राजीव गांधी ने निकट और दूर के भविष्य को देखते हुए एक मुद्दा खड़ा किया था। उस मुद्दे ने देश की जनता की सही सही नब्ब पकड़ ली और देश को एक और अखण्ड रखने की तीव्र भावना से ओत-प्रोत होकर जनता सत्ताधारी दल के पक्ष में बोट डालने को टूट पड़ी। एक तरह से इतनी बड़ी अभूतपूर्व विजय का होना भारतीय जनता द्वारा आनन्दपुर प्रस्ताव के विरोध में दिया गया जनमत है। प्रसन्नता की बात है कि अन्य बड़े-बड़े समाचार पत्र भी अब इस बात को खुलकर कहने लगे हैं।

एक ओर यह विशाल भारतीय जनमत है और दूसरी ओर हमारे कुछ सिख बन्धु हैं जो अभी तक यही रट लगा रहे हैं कि आनन्दपुर प्रस्ताव से कम किसी भी बात पर वे सहमत होने को तैयार नहीं हैं। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के कार्यकारी अध्यक्ष श्री प्रेमसिंह लालपुरा ने यह घोषणा की है कि वे आनन्दपुर प्रस्ताव पर पहले की तरह ज्यों के त्यों अडिग हैं और अकाली दल तब तक अपना आन्दोलन जारी रखेगा जब तक केन्द्रीय सरकार आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव को पूर्णतया स्वीकार नहीं कर लेती। वे यह भी कहते हैं कि इस प्रस्ताव में कोई संविधान-विरोधी बात नहीं है, वह केवल राज्य के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग करता है। निःसन्देह आनन्दपुर प्रस्ताव में खालिस्तान शब्द नहीं आता और केवल अधिक स्वायत्तता की मांग कोई राष्ट्रद्रोह भी नहीं है। किन्तु क्या कोई सिख बुद्धिजीवी यह कह सकता है कि आनन्दपुर प्रस्ताव में

अलगाव के बीज नहीं हैं ? आनन्दपुर प्रस्ताव के जो कई कई विवरण प्रकाशित हुए हैं उन सबको सर्वथा अस्वीकार करने की बात चुनाव भाषणों के दौरान भाजपा के नेता केवल अटल बिहारी वाजपेयी ही नहीं, बल्कि अन्य विपक्षी दलों के प्रमुख नेता भी स्पष्ट कर चुके हैं। अगर आनन्दपुर प्रस्ताव, अलगाववादी नहीं होता, तो ये सब विपक्षी दल इस तरह उससे पल्ला क्यों झाड़ लेते ? और तो और तेलगुदेशम् आन्ध्र प्रदेश में और वामपंथी सरकार पश्चिमी बंगाल में अधिक स्वायत्तता की माँग की खातिर ही सत्ता में आये हैं। किन्तु आनन्दपुर प्रस्ताव पर वे विचार तक करने को तैयार नहीं हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि यह प्रस्ताव केवल अधिक स्वायत्तता के लिए नहीं है।

इस प्रस्ताव के अनुसार पहले ४५ भाँगें पेश की गईं और उसके पश्चात् उनको बढ़ाकर ६० कर दिया गया और अन्त में वह १५ भाँगों तक आ गया। लेकिन अलगाव का बीज उसमें हमेशा बना रहा। सन् १९८१ के अप्रैल में आनन्दपुर साहब में जो विश्व सिख सम्मेलन हुआ था उसमें इस प्रस्ताव को इस मुख्य माँग के रूप में समाहित करने का प्रयत्न किया गया था—
“उत्तर भारत में एक ऐसा स्वायत्त प्रदेश स्थापित किया जाना चाहिए जहाँ सिखों के हितों को प्रमुखता दी जाय। उसे अपना संविधान बनाने का अधिकार दिया जाय तथा विदेश सम्बन्धों, रक्षा एवं सामान्य संचार को छोड़कर सभी शक्तियाँ अपने लिए प्राप्त करने का हकदार घोषित किया जाय।”

निश्चय ही एक देश में दो स्वायत्त राज्य नहीं बन सकते और न ही दो संविधान चल सकते हैं। प्रेमसिंह लालपुरा तथा अन्य सिख बन्धु इस प्रस्ताव के पक्ष में अब चाहे कितनी ही

सफाई देते रहें, लेकिन उनसे ज्यादा अच्छी तरह अब देश की जनता ने इस प्रस्ताव को समझ लिया है और उसके विरोध में अपनी राय दे दी है। देश की जनता ने यह भी बता दिया है कि एकता और अखण्डता ये दो ऐसे मुद्दे हैं जिनके लिए सारा देश बड़ा से बड़ी कीमत चुकाने के लिए तैयार है।

अगर केवल स्वायत्तता की ही बात हो, तो भी अब यह प्रस्ताव एकदम व्यर्थ है। हम यह स्वीकार करते हैं कि केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है और देश की भावी एकता उस पर निर्भर है। परन्तु उसके लिए केन्द्रीय सरकार सरकारिया आयोग का निर्माण कर चुकी है। अब वह आयोग इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करेगा ही। इस आयोग की रिपोर्ट के अनुसार जो अधिकार आन्ध्र प्रदेश और पश्चिमी बंगाल को तथा अन्य राज्यों को प्राप्त होंगे, वे ही अधिकार पंजाब को भी प्राप्त होंगे। मुख्य बात यह है कि अन्य राज्यों से भिन्न कोई विशेष व्यवस्था केवल पंजाब के लिए किसी को स्वीकार नहीं होगी। इसीलिए हरकिशनसिंह सुरजीत ने, जो भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी के पोलित ब्यूरो के सदस्य हैं, सिखों से अपील की है कि वे आनन्दपुर प्रस्ताव को भूल जायें। अकाली नेता अब यह तो कहने लगे हैं कि हमारी माँग खालिस्तान की मनोवृत्ति का जनक यही प्रस्ताव है। अब किसी भी प्रकार की व्याख्या इस प्रस्ताव के पक्ष में न जनमत को मोड़ सकती है और न केन्द्रीय सरकार को। इस प्रस्ताव पर जोर देकर सिख समाज और सारा देश उसके दुष्परिणामों को भुगत चुका है। इन्दिरा गाँधी की हत्या ने इस प्रस्ताव की विभीषिका की और उसकी चरम परिणति को संसार के सामने उजागर

कर दिया है। फिर भी यदि दिन में किसी पक्षी-विशेष को दिखाई न दे तो सूर्य को दोष नहीं दिया जा सकता।

निःसन्देह केन्द्रीय सरकार यदि पंजाब की समस्या का कोई उचित समाधान कर देती है तो इससे सारा देश राहत की सांस लेगा। परन्तु यदि सिख बन्धु भी इस समस्या का समाधान चाहते हैं तो उन्हें आनन्दपुर प्रस्ताव को सर्वथा तिलांजलि देनी ही होगी। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि इस प्रस्ताव के विरोध में देश का जनमत प्राप्त करके भी यदि केन्द्रीय सरकार इस प्रस्ताव के आधार पर सिख नेताओं से बात करती है तो वह न केवल जनमत का अनादर होगा बल्कि वह जनता के साथ विश्वासघात भी होगा।

केन्द्रीय सरकार को भविष्य - यह भाँ ध्यान रखना होगा कि पंजाब की समस्या पर बातचीत करते समय केवल अकालियों को ही पंजाब का प्रतिनिधि न माना जाय बल्कि उसमें हिन्दुओं को भी बराबर की भागेदारी हो। भविष्य में केन्द्रीय सरकार ऐसे किसी सिख प्रतिनिधि मंडल से बात नहीं करेगी जिसमें कम से कम उतना ही संख्या में हिन्दुओं के प्रतिनिधि शामिल न हों जितनी संख्या में सिखों के हों। अकाली दल को समस्त सिखों का प्रतिनिधि मानने का भी कोई औचित्य नहीं है। पंजाब केवल अकालियों का ही नहीं है। इसलिए पंजाब की समस्या के समाधान के लिए अकालियों से इतर लोगों को भी उतना ही महत्व देना होगा। उसके बिना पंजाब की समस्या का न्यायपूर्ण हल नहीं हो सकता।

□

[१३ जनवरी, १९८१ ई०]

नए युग का सूत्रपात

वैदिक वाङ्मय के प्रसिद्ध पंडित, राष्ट्रीय विद्वान के रूप में पुरस्कृत और सम्मानित, श्रद्धास्पद प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार ने “यह करिश्मा किसका था” शीर्षक से निम्न पत्र लिखा है—

“आर्य जगत् में कुछ महानुभावों ने ‘आर्य जगत्’ के सम्पादक क्षितीश जी वेदालंकार तथा सार्वदेशिक सभा के प्रधान लाला रामगोपाल जी शालवाले के इस कथन को भर्त्सना की है कि आर्य समाज को कांग्रेस (आई) को सकल बनाना चाहिए। मुझे इन लोगों पर तरस आता है क्योंकि ये लोग समझे नहीं कि क्षितीश जी तथा रामगोपाल जी शालवाले के कथन का आधार क्या है। पंजाब की स्थिति का जिन लोगों ने बारीकी से अध्ययन किया है वे जानते हैं कि प्रश्न कांग्रेस (आई) तथा विपक्षी दल का नहीं था, प्रश्न हिन्दू तथा भारत के विभाजन की मांग करने वालों का था। पंजाब में कौन मारे गये थे? भिंडरावाले की हिट लिस्ट में कौन थे? श्री जगतनारायण क्यों मारे गये? उनके पुत्र क्यों मारे गये? इन्दिरा गांधी क्यों मारी गई? हिट लिस्ट में कोई अन्य भी था या सब हिन्दू ही थे? श्री राजीव गांधी हर भाषण में कहते रहे कि भारत के विभाजन की मांग करने वाले आतंकवादियों के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। इस चुनाव का निष्कर्ष भले ही लोग कुछ कहें, परन्तु साफ तौर पर यह था कि भिंडरावाले के अनु-

यायी हिन्दुओं पर आक्रमण कर रहे थे और हिन्दुओं पर ही गोबरियाँ चला रहे थे। देश का दुर्भाग्य है कि इस देश में हिन्दुओं का बहुमत होते हुए भी अब तक कांग्रेस अल्पमत वालों के मत पर राज्य करती आ रही है। जब से भारत स्वतन्त्र हुआ तब से पहली बार है जब हिन्दुओं ने समझ लिया कि उन पर हिन्दू होने के नाते आक्रमण हो रहा है इसलिए पहली बार हिन्दू जागे और उन्होंने मत बल से अपने अस्तित्व को जाहिर किया।

“कांग्रेस जीती है और इतने बहुमत से जीती है जितना बहुमत इसे न जवाहरलाल जी के समय प्राप्त हुआ, न श्रीमती इन्दिरा गांधी के समय प्राप्त हुआ। इस विजय का कारण श्रीमती गांधी की नृशंस हत्या तो है ही, परन्तु बड़ा जबर्दस्त कारण हिन्दुओं का यह समझ लेना है कि यह देश हिन्दू प्रधान है इसलिए अब हिन्दू अधिक समय तक अपने साथ अन्याय और अत्याचार बर्दाश्त नहीं करेंगे।

“एक संवाददाता जब सम्मति-संग्रह करते हुए एक संघी के पास पहुँचा तो उसने स्पष्ट कहा कि संघी होते हुए भी वह कांग्रेस (आई) को वोट देगा। क्योंकि उसके लिए प्रश्न भारतीय जनता पार्टी या किसी अन्य पार्टी का नहीं था उसके सामने प्रश्न यह था कि हिन्दू हितों की रक्षा कौन करेगा। उसकी दृष्टि में कांग्रेस को अब चेलेंज हिन्दू संस्था होने के कारण या धर्म-निरपेक्ष संस्था होने के कारण नहीं। तह की बात सब समझते थे, ऊपर से भले ही कुछ कहते रहें। इस चुनाव में प्रत्येक हिन्दू का यही दृष्टिकोण था, जो उचित ही था।

“क्या कारण है कि मध्य प्रदेश जो जन संघ का गढ़ रहा है, वहाँ विपक्षी दल को ऐसी हार मिली जिसकी कभी आशा

नहीं की जा सकती थी। क्या श्री राजीव गांधी में इतना करिश्मा है कि उनको पार्टी इतने बहुमत से विजयी होती? यह करिश्मा है हिन्दुओं के जाग उठने का। अगर श्री क्षितीश न भी लिखते, अगर श्री रामगोपाल शालवाले न भी घोषणा करते, तो भी इस घटना चक्र में हिन्दू वोट कांग्रेस (आई) के पक्ष में पड़ना जरूरी था। कांग्रेस विजयी हुई है हिन्दू वोटों के कारण और कांग्रेस के सामने इस समय स्पष्ट चैलेंज था हिन्दू हितों की रक्षा का। इस चुनाव युद्ध में कांग्रेस मूल रूप में धर्म-निरपेक्षता का रटा पिटा नारा लगाती हुई भी हिन्दुत्व का खोल ओढ़े हुई थी और विपक्षी दल, यहाँ तक कि भाजपा भी अपना सब दर्शनशास्त्र भूलकर अहिन्दुओं के वोटों की भिक्षा मांग रही थी। इस चुनाव-युद्ध का यह स्पष्ट निर्णय है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता।”

इस पत्र के सम्बन्ध में हमें अपनी ओर से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान देने की बात तो यह है कि बड़े-बड़े पत्रकार और वरिष्ठ राजनेता जिस बात को खुलकर कहने से हिचकते हैं उसी बात की ओर पत्र-लेखक ने ध्यान खींचा है। इस बार के चुनावों के सम्बन्ध में जितने भी और विश्लेषण किये गये हैं, उनको हम गलत नहीं कहते। परन्तु जिस बात को सबसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिये उसी की सबसे अधिक उपेक्षा होती देखकर आश्चर्य होता है। अभी तक कुछ लोग अपने में से हिन्दू शब्द के प्रति हीनता-बोध से उबर नहीं पाये हैं। वे अभी तक अन्य सम्प्रदाय मात्र मानना चाहते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि हिन्दू-द्रोह भारत-द्रोह का पर्यायवाची नहीं है। परन्तु तब भारत-द्रोह की परिभाषा क्या है, यह स्पष्ट

करना होगा। हम तो केवल यह जानते हैं कि भारतीय संस्कृति जिन जीवन मूल्यों के कारण प्रत्येक भारतवासी के मन में गर्व और गौरव की भावना जगाती है, वे हिन्दू जीवन-मूल्य ही हैं, बहिन्दू जीवन-मूल्य नहीं। इन जीवन-मूल्यों में हम लोकतन्त्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता को भी जोड़ते हैं। हम इसीलिए बार-बार कहते हैं कि जब तक यह हिन्दू-बहुल है तभी तक यहाँ लोकतन्त्र और सम्प्रदाय-निरपेक्षता कायम है और जिस दिन इस देश में हिन्दू अल्पमत में हो जावेंगे, उस दिन न यहाँ लोकतन्त्र रहेगा और न सम्प्रदाय-निरपेक्षता रहेगी। इस सत्य को हृदयंगम करने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, केवल अपने पड़ोसी देशों पर नजर डालने की जरूरत है।

भले ही इस समय कांग्रेस या सरकार हिन्दू राष्ट्र या हिन्दू राज्य शब्द का प्रयोग न करे, पर उसकी वास्तविकता की ओर धीरे-धीरे वे दोनों तथा स्वयं हिन्दू समाज भी अग्रसर होते जा रहे हैं। इस बार यह तत्व खुलकर सामने आया है। हम इसी को नये युग का सूत्रपात कहते हैं। कुछ लोगों की यह बात अटपटी लग सकती है, परन्तु गहराई से सोचने पर उन्हें हमारी बात की सचाई पर विश्वास हो जायेगा।

हिन्दुत्व की ओर उन्मुख होने की यह प्रक्रिया आज से प्रारम्भ नहीं हुई, बल्कि जिस दिन यह देश स्वतन्त्र हुआ उसी दिन से धीरे-धीरे बढ़ती गई है। नहीं तो क्या कारण है कि आजादी से पहले हिन्दुत्व के प्रतीक समझे जाने वाले शिवाजी और महाराणा प्रताप तक को जिस अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था, आजादी के पश्चात् महापुरुषों के प्रति स्वयं कांग्रेस और सरकार के मन में वह अवहेलना नहीं रही। दोनों के रुख में

परिवर्तन आया और उन्होंने भी शिवाजी जयन्ती या प्रताप जयन्ती में सोत्साह भाग लिया। जिस चोरी-चौरा काण्ड के कारण महात्मा गाँधी ने अपना राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह तत्काल स्थगित कर दिया था उसी चोरी-चौरा काण्ड के शहीदों को श्रद्धांजलि देने के लिए स्वयं इन्दिरा गाँधी ने पहल की थी। स्वतन्त्रतापूर्व के युग में चन्द्रशेखर आजाद और सरदार भगत सिंह के प्रति भी कांग्रेसी नेताओं की जो भावना रही थी, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् उस भावना में स्पष्ट रूप से परिवर्तन आया है। अब तो इस युवा वर्ष के दौरान, जिस स्वामी विवेकानन्द पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपना एकाधिकार समझता था, स्वयं प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी ने देश के युवकों के समक्ष उसी स्वामी विवेकानन्द को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने का निश्चय किया है। क्या इससे पहले कांग्रेस नेताओं के मन में कभी स्वामी विवेकानन्द के प्रति यह भक्ति-भाव उमड़ा था ?

स्वयं राष्ट्रपति जैल सिंह ने संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में भारतीय राष्ट्रीयता के पुनर्जीवन की जो बात कही है, उसका सही अर्थ भी हमें हिन्दू जीवन मूल्यों पर आधारित प्राचीन भारत की संस्कृति के इतिहास में खोजना होगा। देश के सामने सबसे बड़ी और तात्कालिक समस्या एकता और अखण्डता को कायम रखना है जिसके लिए विघटनकारी तत्वों का दमन आवश्यक है। ऋषि निर्वाण शताब्दी के समापन समारोह में भी राष्ट्रपति ने इसी बात को दोहराया है। इसी विघटन की रोकने के लिए समस्त हिन्दू समाज संनद्ध हुआ, उसने कांग्रेस को जिताया और अब “मिस्टर क्लीन” के नाम से

सम्बोधित श्री राजीव गाँधी ने राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के सचिवालय से जासूसी के आरोप से इतने बड़े-बड़े अफसरों का सफाया करके देश की अखण्डता में पलीता लगाने वाले तत्वों का सफाया प्रारम्भ कर दिया है। इस बार के गणराज्य दिवस को हम इसी नये युग का श्रीगणेश समझ रहे हैं। अब "मिस्टर क्लीन" भ्रष्टाचार और स्वार्थ के वशीभूत होकर देश को बेचने वालों से सारे देश को मुक्त करके इसको साफ सुथरा बनाकर जहाँ 'क्लीन' शब्द के सम्बोधन को सार्थक करेंगे वहाँ कमल की तरह देश को श्री और समृद्धि सम्पन्न बनाकर अपने 'राजीव' नाम को भी सार्थक करेंगे, यह हमें आशा करनी चाहिए।

□

[२७ जनवरी, १९८५ ई०]

टंकारा रजत जयन्ती

टंकारा में महर्षि दयानन्द के स्मारक को बने २५ वर्ष पूरे हो गये हैं। अनन्त काल की गणना के हिसाब से २५ वर्ष का भले ही कोई महत्व न हो, परन्तु किसी संस्था के जीवन में २५ वर्ष सकुशल और सानन्द पूरे कर लेना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना किसी व्यक्ति के जीवन में। कदाचित् इस महत्व को प्रकट करने के लिए ही २५ वर्ष पूरे होने पर रजत जयन्ती जैसा पर्व मनाने की परम्परा खली हो।

व्यक्ति के जीवन में जिस प्रकार २५ वर्ष की अवधि किशोरावस्था की समाप्ति और पूर्ण यौवन की प्राप्ति की द्योतक है, उसी प्रकार किसी संस्था के सम्बन्ध में भी यही समझा जा सकता है। बाल्यावस्था में बच्चों को जिस प्रकार के बाल-रोगों का सामना करना पड़ता है, उनसे सब माता-पिता परिचित हैं। उसके बाद किशोरावस्था में जो समस्याएँ किसी व्यक्ति के जीवन में आती हैं, उनका सामना अभिभावकों के साथ-साथ शिक्षकों को भी करना पड़ता है। परन्तु २५ साल की आयु आते-आते यह स्पष्ट हो जाता है कि अब व्यक्ति सौशव और किशोरावस्था को पार करके पूर्ण यौवन की देहली पर उपस्थित होकर अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ है। टंकारा के इस महर्षि दयानन्द स्मारक को २५ वर्ष पूरे होने पर हम यही आशा करते हैं कि अब यह स्मारक अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ सब दृष्टियों से अपने पाँवों पर खड़ा होने में समर्थ होगा।

जिस प्रकार व्यक्ति के विकास में किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों का सहयोग होता है, उसी तरह सस्थाएँ भी किसी एक व्यक्ति के बजाय अनेक व्यक्तियों के श्रम से सिंचित होकर परवान चढ़ती हैं। महर्षि दयानन्द के इस स्मारक को फलने और फूलने में जिन महानुभावों ने आज तक अपना सहयोग दिया है, आज का दिन उन सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का दिन है। उनमें से कितने ही नींव के पत्थरों की तरह सम्भवतः बिना कोई विशेष यज्ञ और विशेष चर्चा पाये ही इस संसार से विदा हो गये हों, परन्तु आर्य जनता उनकी सदा चिर श्रृणी रहेगी। भाव में से भाव को खड़ा करने वाले तो अनेक लोग मिल जायेंगे, परन्तु अभाव में से भाव को खड़ा करने वाले लोग इस संसार में दुर्लभ हैं।

पहले तो यह खोज करने में ही ५० वर्ष निकल गये कि टंकारा की पुण्यभूमि को ही संसार में वैचारिक क्रान्ति के अग्रदूत महर्षि दयानन्द को जन्मस्थली होने का गौरव प्राप्त है। उसके बाद लगभग ३५ वर्ष इस बात में निकल गये कि इस पुण्यभूमि पर महर्षि दयानन्द का स्मारक बनना चाहिए। जब स्मारक बनाने का निर्णय भी हो गया, तब उसकी क्या रूप-रेखा हो, उस पर भी विचार करने में काफी समय निकल गया। और जब रूप-रेखा का निर्धारण हुआ तब आर्य जनता के आलस्य ने और हम भारतवासियों की जड़ता ने उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देने दिया। उस समय सचमुच ही आगे आकर निःस्वार्थ भाव से अपने मिशन को पूरा करने में जिन लोगों ने अपना समय, धन, और शक्ति लगाई, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है।

अब से कुछ वर्ष पहले तक भी आर्य जगत् में टंकारा की कोई विशेष चर्चा नहीं होती थी। परन्तु जिन लोगों ने अहर्निश प्रयत्न करके देश भर की आर्य जनता में टंकारा का नाम गूँजाया है, उनको इस बात का श्रेय प्राप्त है कि अब आर्यजनों में बिरला ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो टंकारा के नाम, काम और महत्व से परिचित न हो। परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि अब भी आर्य समाज का एक वर्ग ऐसा है जो ऋषि दयानन्द के इस टंकारा स्मारक के उत्थान में वाचिक सहानुभूति भले ही प्रकट कर दे, परन्तु इससे अधिक उनसे कोई सहयोग प्राप्त नहीं होता। वे समझते हैं, कि जिन कुछ लोगों ने इस स्मारक को विश्व मंच पर उसका उचित स्थान दिलाने का अभियान प्रारम्भ किया है, यह सारा सिरदर्द उन्हीं का है, उन्हीं को सारा भार उठाना चाहिए, हमें इसमें कोई सहयोग देने की जरूरत नहीं।

यह प्रवृत्ति आज की नहीं, न जाने कब से चली आ रही है। जब सन् १९३६ में निजाम हैदराबाद में आर्य समाज का सत्याग्रह आन्दोलन चला था तब भी कुछ लोग उसका समर्थन करने या उसमें सहयोग देने के बजाय उसका विरोध करने से बाज नहीं आये थे। फिर जब हिन्दी रक्षा आन्दोलन चला या गोरक्षा आन्दोलन चला, तब भी एक वर्ग उन दोनों आन्दोलनों के प्रति न केवल उदासीन, बल्कि आंतरिक रूप से विरोधी बना रहा। वही बात हमने सन् १९५३ में अजमेर में मनाई गई ऋषि निर्वाण शताब्दी के अवसर पर भी देखी। पहले वे उसका विरोध करते रहे, किन्तु जब उसमें सफलता नहीं मिली तो उसके बाद जबानी सहयोग के सिवाय कभी किसी प्रकार का कोई और सक्रिय सहयोग उनसे प्राप्त नहीं हुआ। वे किसी न

किसी बहाने से लगातार मीन-मेख निकालते रहे । परन्तु उनकी इस उदासीनता और प्रच्छन्न विरोध के बावजूद जब अजमेर में निर्वाण शताब्दी का समारोह इतने शानदार ढंग से सम्पन्न हो गया, तब सब चकित रह गये ।

उसी प्रकार की मनोवृत्ति हम टंकारा के इस ऋषि स्मारक के सम्बन्ध में भी देख रहे हैं । प्रायः देश की दूरस्थ और गुमनाम आर्य समाजों से टंकारा ट्रस्ट की सहायता के लिए धन राशि दान में आती रहती है । वह राशि आँकड़ों के हिसाब से कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, उन आर्यजनों की श्रद्धा और टंकारा के प्रति एक आस्था की प्रतीक तो है । परन्तु धन्य है उन बड़ी-बड़ी आर्य समाजों को और दिग्गज आर्य-नेताओं को, जिन्होंने आज तक टंकारा के लिए न कभी कोई आर्थिक सहयोग दिया और न ही कभी किसी अन्य प्रकार का कोई सहयोग । अस्पृश्यता-निवारण के इस युग में टंकारा को इस प्रकार अस्पृश्य समझने वालों से भी कभी तो आर्य जनता जवाब तलब करेगी ही । 'जो निष्क्रिय है समय लिखेगा उनका भी अपराध' ।

अन्य धर्मावलम्बियों ने किस प्रकार अपने धर्म के प्रवर्तकों से ऐतिहासिक स्थानों को इतना महत्व दिया है कि उन स्थानों को तीर्थ समझकर देश विदेश से हजारों यात्री प्रतिवर्ष उन स्थानों का दर्शन करने जाते हैं ! एक ओर हम हैं जो ऋषि दयानन्द की जय बुलाते तो थकते नहीं, परन्तु ऋषि से सम्बद्ध स्थानों की निरन्तर उपेक्षा करते हैं । ऋषि दयानन्द केवल आर्य समाजियों के ही पूज्य नहीं हैं, बल्कि विभिन्न धर्मों के अन्दर आये अन्य विश्वासों, पाखण्डों और बुद्धि-विरुद्ध अवैज्ञानिक मान्यताओं

का खण्डन करके और वेदों का पुनरुद्धार करके वे जिस नई विचार-क्रान्ति को जन्म दे गये हैं, उसके कारण एक समय ऐसा आयेगा जब केवल आर्य समाजी ही नहीं बल्कि विश्व भर के बुद्धिवादी क्रान्तिकारी, समाज-सुधारक और स्वतन्त्र-चेता विचारक ऋषि दयानन्द के जन्म स्थान के महत्व को समझेंगे और तब टंकारा विश्व का एक अद्भुत अनुपम तीर्थ बनेगा। टंकारा के स्मारक को उस विश्व मानवता के भविष्य के अनुरूप तैयार करने का दायित्व हम आर्य समाजियों का है।

टंकारा की यह रजत जयन्ती अपने आपको आर्य समाजी कहने और समझ लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पूछती है कि क्या हमने अपने उस महान दायित्व को पहचानने का प्रयत्न किया है ? और यदि पहचाना है तो उस दायित्व की पूर्ति के निमित्त हमारी सक्रिय भूमिका क्या है ?



[१७ फरवरी १९८५ ई०]

टंकारा—एक स्वप्न—एक यथार्थ

टंकारा एक स्वप्न था । वह आज भी एक स्वप्न है ।

टंकारा को स्वप्न का रूप ग्रहण करने में भी पूरे ५० वर्ष लग गये । आर्य जनता की जड़ता को क्या कहें ! एक समय था, जब यह स्वप्न भी नहीं था । टंकारा का नाम इतिहास-बोध की हमारी उपेक्षा को उजागर करता हुआ कहीं अतीत में खोया हुआ था और हम नहीं जानते थे कि इस स्थान से आर्य समाज का भी कोई सम्बन्ध होगा । हम ऋषि दयानन्द का नाम लेते थे, उनकी जय के नारे लगाते थे और यथा-तथा ऋषि के उप-देशों पर आचरण करने का प्रयत्न भी करते थे, परन्तु नहीं जानते थे कि टंकारा के साथ उस युग-प्रवर्तक का भी कोई सम्बन्ध है । इतना तो शुरू से ही पता था कि मोरवी रियासत के किसी स्थान को इस महापुरुष-शिरोमणि की जन्मस्थली होने का सौभाग्य प्राप्त है, परन्तु वह टंकारा ही है, यह हम कहाँ जानते थे । धन्य हो उस गैर आर्य समाजी ऋषि-भक्त, तपस्वी, बंगाली बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को जिन्होंने ऋषि जीवन की खोज में अपना जीवन गला दिया और इस बात के निश्चयक प्रमाण प्रस्तुत किये कि टंकारा ही देव दयानन्द की जन्म भूमि है । उसके पहले संसार में अस्तित्व होते हुए भी हमारे मानस-क्षितिज पर टंकारा का कोई अस्तित्व नहीं था । बाबू देवेन्द्रनाथ की कृपा से हमने टंकारा को महर्षि की जन्मभूमि रूप में पहचाना और तब वह हमारे स्वप्न में स्थान पा सका ।

५० वर्ष की उस उपेक्षा-भरी गाढ़ निद्रा के पश्चात् जब हम जागे तब भी यह नहीं समझ पाये कि हम टंकारा का क्या करें। ऋषि का जन्म स्थान है हुआ करें। उसके प्रति हमारा कोई दायित्व भी है, यह पहचानने में हम असफल रह। इस उपेक्षा की अवधि भी लगभग ३५ वर्ष है। पहले ५० वर्ष और उसके बाद ये ३५ वर्ष। तदनन्तर हमको ध्यान आया कि टंकारा में तो ऋषि का कोई स्मारक बनना चाहिए। वह स्मारक क्या हो, इस उलझन में फिर कई साल निकल गये। कुछ प्रयत्न हुए। कुछ मनस्वी लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न भी किये, परन्तु टंकारा को स्वप्न की अवस्था से नहीं निकल सके।

धीरे-धीरे स्वप्न में यथार्थ का रंग भरने की नौबत आई और तरह-तरह के परीक्षणों की विफलता के पश्चात् अन्त में टंकारा में अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक विद्यालय स्थापित करने का निश्चय हुआ। उस बात को भी अब २५ वर्ष गुजर गये और इस वर्ष इस उपदेशक विद्यालय की रजत जयन्ती मनाई गई। जैसे २५ वर्ष की अवस्था किसी युवक के जीवन में इस बात का प्रमाण होती है कि अब यह व्यक्ति यौवन से भरपूर होकर सब तरह से अपने पांवों में खड़ा होने में समर्थ है, उसी तरह की मनःस्थिति किसी संस्था की रजत जयन्ती मनाने पर भी उपस्थिति होती है हालाँकि संस्थाओं के जीवन में २५ वर्ष का काल बहुत थोड़ी अवधि है फिर भी पालने में पूत के पांवों की परीक्षा के लिए यह अवधि अपर्याप्त नहीं है। निश्चित रूप से टंकारा का उपदेशक विद्यालय अब अपने बाल्यावस्था और किशोरावस्था के उपद्रवों से निकल चुका है। परन्तु फिर भी हम अभी तक टंकारा को एक स्वप्न ही मानते हैं।

टंकारा को अभी तक स्वप्न मानने का एक कारण यह भी है कि इस स्वप्न को यथार्थ का जो रूप देने की कल्पना हमारे मन में है, वह उतनी सहज नहीं है। अगर टंकारा के स्वप्न को यथार्थ बनाना है तो उसका रूप क्या हो यह हमारी कल्पना-शक्ति की तो चुनौती है ही, हमारे पुरुषार्थ की भी चुनौती है। जिस जड़ता की बात हमने प्रारम्भ में कही है, उस जड़ता का स्मरण करके कोई बड़ी कल्पना करते भी डर लगता है। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि आर्य जनता एक सोता हुआ शेर है। जब तक वह निद्रा में मग्न है तभी तक जंगल में अराजकता और छोटे-मोटे अन्य जानवरों की घमाचौकड़ी चलती है, किन्तु जब बनाधिरति सिंह अपनी निद्रा से जागता है और हुंकार भरता है तो उसकी गर्जना से न केवल दिशाएँ गूँजती हैं बल्कि अन्य श्वापद शरण ढूँढते फिरते हैं और अरण्य की अराजकता समाप्त हो जाती है। जब-जब आर्य जनता ने हुंकार भरी है, तब-तब यही स्थिति हुई है। जिस दिन आर्य जनों की यह जड़ता चैतन्य में बदलेगी उस दिन समस्त विश्व उसकी चेतनता को देखकर चकित हुए बिना नहीं रहेगा।

तो टंकारा का वह यथार्थ क्या हो ? आर्य बन्धु अन्यथा न लें तो हम अपने मन की बात कहें। हम समझते हैं कि जिस तरह कन्याकुमारी में विवेकानन्द शिला स्मारक बनाकर और विवेकानन्द नगर की स्थापना करके पुरुषार्थ के धनी कुछ मन स्त्रियों ने उसे सारे देश ही नहीं विश्व भर के विवेकानन्द-भक्तों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना दिया है, कुछ वैसा ही प्रेरणा का स्रोत संसार भर में फैले ऋषिभक्तों के लिए टंकारा को बनना चाहिए। नहीं, विवेकानन्द शिला स्मारक की नकल करने की

बात हम नहीं कह रहे हैं। परन्तु उससे प्रेरणा लेने की बात अवश्य करना चाहते हैं। इस शिला स्मारक के साथ जिस प्रकार विवेकानन्द नगर नाम से नई नगरी बसा कर कन्याकुमारी में देश की सेवा करने के उरसुक मुशिक्षित युवकों और युवतियों को जीवनोन्नति बनाने की योजना कार्यान्वित की जा रही है, क्या उस प्रकार के जीवन-व्रती हम तैयार नहीं कर सकते ? धर्म और जाति के लिए अपना जीवन लगाने वाले उत्साही आर्य वीरों और आर्य वीरांगनाओं की क्या हमारे पास कमी है ? हम सारे संसार को आर्य बनाने के लिए देश विदेश में उच्च कोटि के प्रचारकों की आवश्यकता दिन-प्रतिदिन अनुभव करते हैं, परन्तु उसके लिए हमारा प्रयत्न केवल सदिच्छा तक सीमित रह जाता है। हम केवल यह चाहते हैं कि गरीबों के या निर्धन ग्रामीण जनों के बालक किसी तरह हमारी छात्रवृत्ति और सहायता के द्वारा छोटे-मोटे पुरोहित या संस्कार करवाने वाले और आर्य समाज के सत्संगों में उपदेश देने वाले, आत्महीनता से ग्रस्त, उपदेशक तैयार हो जायें। परन्तु ऐसे स्तर-हीन, अल्पशिक्षित और केवल लाचारी में उपदेशक-वृत्ति अपनाने वाले युवक संसार को आर्य बनाने का स्वप्न पूरा नहीं कर सकते। प्रथम अवसर मिलते ही वे उससे हाथ धो लेते हैं। यह उनका दोष नहीं, उनकी विवशता है। हम मुकाबला करना चाहते हैं देश-विदेश के अन्य दिग्गज धर्माध्यक्षों से और उसके मुकाबले में तैयार करते हैं बहुत बौने आदमी। इसके कारणों का मीमांसा की आवश्यकता है।

सबसे पहले तो हमको स्वयं आत्म विश्लेषण करना पड़ेगा। महाराजा अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भिक्षु और भिक्षुणी बनाया था। तभी तो उस युग के घनाढ्य, राजा-महाराजे और प्रकाण्ड पंडित भी

बौद्ध धर्म की शरण में आये थे। बर्मा के प्रधानमन्त्री ऊ नू स्वयं भिक्षु बन सकते हैं। अमेरिका के विदेश मन्त्री डलेस का होनहार पुत्र पादरी बनने के लिए रोम जा सकता है। परन्तु हमारे समाज के तथाकथित उच्च वर्ग के लोग कभी यह नहीं सोच सकते कि उनकी सन्तान भी उपदेशक बने। स्वयं उपदेशक भी अपनी सन्तान को उपदेशक नहीं बनाना चाहते। सब अपनी सन्तान को वकील, डाक्टर, इंजिनियर या सरकारी अफसर बनाना चाहते हैं। तो क्या गोदान के होरी का लड़का ही उपदेशक बनने को रह गया है? युवकों में भावना की कमी नहीं होती, परन्तु उनका सही ढंग से मार्गदर्शन करके और उनका योगक्षेम की उचित व्यवस्था करके उनके सामने वैदिक धर्म के मिशनरी का उदात्त आदर्श उपस्थित किया जाय तो अभी यह मही इतनी वीर विहीन नहीं हुई है कि आर्य समाज में भी रंगनाथानन्द या चिन्मयानन्द तैयार न हो सकें।

हम टंकारा को कन्याकुमारी के ढंग का रूढ़ देकर अद्भुत तीर्थ ही नहीं, बल्कि स्वप्न को यथार्थ में परिणत करने वाला एक विश्व दर्शनीय चमत्कारी स्थान बनाना चाहते हैं और अपना यह स्वप्न आर्य जनता के मन में उतारना चाहते हैं। उसका क्रियात्मक रूप क्या हो, यह आर्य नेताओं पर छोड़ते हैं।

टंकारा की रजत जयन्ती से इस बार हम यही विचार लेकर लौटे हैं। टंकारा को उसका प्राप्तव्य मिलना ही चाहिए। जब आर्य मनीषी इस दिशा में विचार करना प्रारम्भ करेंगे तो स्वयं उनके सामने मार्ग प्रशस्त होता जाएगा। हम तो केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि टंकारा में वे सब सम्भावनाएँ हैं। □

[३ मार्च १९८५ ई०]

टंकारा—एक स्वप्न—एक यथार्थ (२)

पिछले लेख में हमने ऋषिवर दयानन्द के जन्मस्थान टंकारा को एक स्वप्न से निकालकर एक यथार्थ के धरातल पर पहुँचाने का आर्य जनता से आह्वान किया था। उस यथार्थ का स्वरूप क्या हो, इस सम्बन्ध में संक्षेप से चर्चा भी की थी। इस बार टंकारा के सम्बन्ध में हमारे मन में जो योजना है, उसी को कुछ विस्तार से पाठकों के सामने रखना चाहते हैं।

टंकारा में मौरवी नरेश का महालय (महल) खरीदकर ऋषि के स्मारक के रूप में कुछ परीक्षणों को अपनाने के पश्चात् जब अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय की स्थापना की गई, हो सकता है तब भी इस प्रकार की कुछ योजना संस्थापकों के मन में रही हो। परन्तु जिस लघु रूप में वह कार्य शुरू हुआ, उससे उसके भावी विस्तार की सम्भावना नष्ट नहीं होती। इस महालय में राज निवास, रानी निवास और कर्मचारी निवास के लिए जितने कमरे और भवन बने हुए हैं, और आस पास जितनी भूमि है, वह अपने आप में ही इतनी विस्तृत है, कि कोई भी विशाल योजना वहाँ सफल हो सकती है। कहने का भाव यह है कि स्थान की तंगी नहीं है। उस समय महालय और उसके परिसर को खरीदने में जो कुछ लाख रुपया लगा था, अब वही स्थान भौतिक दृष्टि से करोड़ों रुपए की सम्पदा अपने में समेटे है। आवश्यकता उसके समुचित उपयोग की है।

जो उपदेशक विद्यालय इस समय वहाँ चल रहा है, उसमें

१० विद्यार्थी हैं। यह हमारे गत २५ वर्षों की उपलब्धि है। इतनी संख्या इससे पहले वहाँ कभी नहीं हुई। किन्तु वहाँ गुंजाइश सैकड़ों विद्यार्थियों की है। प्रश्न यह है कि उसके लिए क्या योजना हो और किस प्रकार देश भर में उस योजना को प्रचारित करके इसको एक सचमुच ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का रूप दिया जाय। इस समय वहाँ जो उपदेशक विद्यालय स्थापित हैं, उसके नाम के शुरू में 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द लगा अवश्य है, पर यह केवल बड़बोलेपन का परिचायक एक विशेषण मात्र बनकर रह गया है। इसका सार्थकता दृष्टिगोचर नहीं होती। अन्तर्राष्ट्रीय तो क्या २० विद्यार्थियों वाली किसी संस्था को अखिल भारतीय स्तर की राष्ट्रीय संस्था कहते भी संकोच होता है।

इस संस्था को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने से पहले राष्ट्रीय रूप देने की आवश्यकता है। इकाई और दहाई को पकड़े बिना सैकड़ों को पकड़ने की बात कहने वाला व्यापारी कभी विश्व-सनीय नहीं होता। राष्ट्रीय रूप देने के लिए इस संस्था में हमें देश भर के समस्त राज्यों से उत्साही और ऋषि दयानन्द के मिशन के दीवाने नवयुवकों को एकत्रित करना होगा और उन्हें वैदिक धर्म के प्रचार की दीक्षा देकर सुनियोजित ढंग से प्रशिक्षित करना होगा। जब हम सब प्रान्तों से विद्यार्थियों को एकत्रित करने की बात कहते हैं तब साथ यह भी कहना चाहते हैं कि उपदेशक बनने वाले उन विद्यार्थियों को केवल हिन्दी और संस्कृत में ही नहीं, बल्कि उस-उस राज्य की भाषा में भी निष्णात होकर व्याख्यान देने की कला का अभ्यास कराना होगा। इस समय हम हिन्दी और संस्कृत के अलावा, गुजरात

में होने के कारण, उपदेशक विद्यालय में गुजराती भाषा की वाद-विवाद प्रतियोगिता का तो आयोजन कर सकते हैं और करते भी हैं, परन्तु गुजराती को छोड़कर किसी अन्य प्रादेशिक भाषा को हम कोई स्थान नहीं देते। अच्छा तो यही है कि जिस प्रान्त से जो विद्यार्थी आए वह उस प्रान्त की भाषा में भी प्रचार करने में दक्ष हो।

भारत की जितनी प्रादेशिक भाषाएँ हैं, वे सब राष्ट्रीय भाषाएँ हैं और ये भारत की अपनी हैं। उनकी उपेक्षा करके हम उन प्रदेशों की आम जनता तक नहीं पहुँच सकते। हिन्दी और संस्कृत राष्ट्रभाषा और सांस्कृतिक विरासत के रूप में कितनी ही मान्य और पूज्य क्यों न हों, जब तक लोक भाषाओं को हम प्रचार का माध्यम नहीं बनाते, तब तक गैर-हिन्दी भाषी प्रान्तों में जनता-जनार्दन के मनों तक हमारी पैठ नहीं हो सकती। अभी तक आर्य समाज का प्रचार यदि अधिकतर उत्तर भारत तक ही सीमित रहा तो उसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि हमने दक्षिण भारत की भाषाओं में प्रचारक तैयार करने की ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भारत में भी जो उत्तर भारत के निवासी बसते हैं, हमारी प्रायः केवल उन्हीं तक पहुँच है, उन राज्यों के मूल निवासियों तक नहीं। उन प्रान्तों के लोग समझते हैं कि आर्य समाज तो केवल उत्तर-भारतीयों का आन्दोलन है।

जब से भाषावार राज्यों का निर्माण हुआ है तब से हरेक राज्य में अपनी प्रादेशिक भाषा के प्रति मोह भी आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है। अपने धर्म प्रचार का माध्यम उन प्रादेशिक भाषाओं को बनाकर हम प्रदेशवाद के स्थान पर राष्ट्रवाद की नई लहर चला सकते हैं और यह काम केवल

आर्थ समाज ही कर सकता है। क्योंकि किसी अन्य संस्था के पास वैसी विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि नहीं है, जैसी आर्थ समाज के पास है। प्रादेशिक भाषाओं के प्रति मोह और आग्रह वहाँ धीरे-धीरे प्रदेशवाद और अलगाववाद को बढ़ावा देता है, वहाँ उन्हीं प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से हमें भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता की दिशा में जनता को जागृत करना है। अन्य संस्थाएँ अपनी प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से प्रायः प्रदेशवाद और साम्प्रदायिकता का प्रचार करती हैं। हमारे उपदेशकों को उस लहर को उलट कर प्रादेशिक भाषाओं को भी सही राष्ट्रवाद का वाहन बनाना होगा।

संस्था को अखिल भारतीय रूप देने के लिए जब हम प्रादेशिक भाषाओं के प्रशिक्षण की बात कहते हैं तो हमें उन प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य और उन भाषाओं के पढ़ाने वाले प्राध्यापक भी रखने पड़ेंगे। अभी तक देश की किसी संस्था में ऐसी व्यवस्था हो यह ध्यान नहीं आता। लेकिन इसके बिना संस्था को अखिल भारतीय रूप देने की बात कैसे हो सकती है, यह हमें समझ में नहीं आता।

अब लीजिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की बात। वह काम और भी कठिन है। विदेशी भाषा के रूप में अभी तक हम केवल अंग्रेजों की दासता के परिणाम-स्वरूप अंग्रेजी को ही जानते पहचानते हैं। परन्तु सारे अंग्रेजी भाषी नहीं हैं। अंग्रेजी में भाषण देने वाले विद्वान् उपदेशक तैयार करके आप उन्हें ब्रिटेन वा अमेरिका और कनाडा तो भेज सकते हैं, या जो स्थान पहले ब्रिटिश उपनिवेश रहे हैं, वहाँ भी अंग्रेजी से काम चल सकता है। परन्तु शेष सारे संसार में अंग्रेजी के माध्यम से सफलता प्राप्त करना संभव नहीं है। वैदिक धर्म के जो प्रचारक चीन और रूस में जायेंगे

उनको चीनी और रूसी भाषा का प्रशिक्षण देना होगा। दक्षिण अमेरिका में जान वाला का स्पेनिश भाषा का प्रशिक्षण देना होगा। इसी तरह अरब देशों में जाने वाले प्रचारकों को अरबी भाषा में भाषण देने की अच्छी क्षमता प्राप्त करनी होगी। जिस तरह हमको अपनी भाषाओं से प्रेम है ससार के अन्य देशों को भी अपनी भाषाओं से उससे कम प्रेम नहीं है। किसी देशवासी की भाषा में वक्त करके ही आप उसके मन को सहज रूप से जीत सकते हैं। अभी तक विदेशों में भी आर्य समाज केवल वहीं-वहीं है, जहाँ भारतीय मूल के लोग हैं। कितने अफ्रीकी, कितने रेड इण्डियन और कितने अरब देशों के निवासी या चीन और रूप के लोग आर्य समाज के नाम से भी परिचित हैं—यह हमने कभी सोचा है? इस दृष्टि से हम पूरे कूप-मण्डक हैं।

हमारे मन की यह उड़ान कोरो खाम खयाली लग सकती है। पर संसार को आर्य बनाने का जो संकल्प ऋषि ने हमको दिया है, उस संकल्प को पूरा करने का श्रीगणेश ऋषि के जन्म स्थान से नहीं होगा तो और कहाँ से होगा? सारा आर्य समाज अपने समस्त साधन और शक्ति लगाकर भी इस योजना को पूरा कर सके, तो यह न केवल एक महान रचनात्मक कार्य होगा, बल्कि संसार को नये युग की दीक्षा देने का भी पथ प्रशस्त करेगा। यह योजना एक दिन में पूरी होने वाली नहीं है, परन्तु इस प्रकार की कल्पना यदि हमारे स्वप्नों में स्थान पा जाय तो एक दिन टंकारा का यह स्वप्न यथार्थ में भी परिणत हो सकता है। □

[१० मार्च १९८५ ई०]

नई लहर का नया संकेत

किसी देश की आन्तरिक बुनावट को समझने के लिए केवल उसकी बाहरी बनावट को देखने से काम नहीं चलता। जो लोग भूगोल को केवल पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण की परिभाषाओं में सपाट मैदान के रूप में पढ़ते हैं, वे लोग सम्भवतः उस देश की आन्तरिक बुनावट के प्रति न्याय नहीं करते। आन्तरिक मनोवैज्ञानिक बुनावट को समझने के लिए किसी वर्गाकार या आयताकार धरातल की नहीं, बल्कि एक वृत्ताकार धरातल की कल्पना करनी होगी। हरेक वृत्त का एक केन्द्र होता है और एक परिधि होती है। उसी तरह प्रत्येक देश को एक गोल घेरे के रूप में लिया जाय तो स्पष्टतः उसके केन्द्र परिधि के आचरण का अन्तर समझ में आ जायेगा। केन्द्र के निकटवर्ती प्रदेश हमेशा अधिकाधिक केन्द्र की ओर उन्मुख होना चाहते हैं, जबकि परिधि के निकटवर्ती प्रदेश केन्द्र से कुछ पराङ्मुखता की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है और यह प्रत्येक देश पर लागू होती है।

लोक सभा के चुनावों में कांग्रेस को जिस तरह लेखा-तोड़ विजय मिली थी, लगभग वैसी ही लेखा-तोड़ विजय इस बार केवल हिन्दी भाषी प्रदेशों तक सीमित रही है। ग़र हिन्दी भाषी प्रदेशों में कांग्रेस की विजयवाहिनी यदि उतने प्रखर रूप में सफल नहीं हुई, तो उसका कारण यही समझना चाहिए कि भारत के जो मध्यवर्ती प्रदेश हैं, उसके चिन्तन में और जो परिधि के निकटवर्ती प्रदेश हैं, उनके चिन्तन में थोड़ी सी भिन्नता

है। इस भिन्नता को एकदम विरोध मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। यह तो भारत की विविधता में एकता का एक प्रमाणमात्र है।

भारत में ७ हिन्दी राज्य हैं, और भारत के मध्यवर्ती होने के नाते से इनको भारत का हृदय प्रदेश कहा जा सकता है। शरीर में जो स्थान हृदय का है, भारत राष्ट्र में वही स्थान इन हिन्दीभाषी प्रदेशों का है। हृदय में विकार हो जाने पर जैसे हार्टफेल की नौबत आ सकती है, वैसे ही यदि इन हिन्दीभाषी प्रदेशों में कभी दृढ़ केन्द्र के प्रति आस्था विचलित हो जाय तो केन्द्र नहीं टिक सकता और भारत राष्ट्र भी खण्ड-खण्ड हुए बिना नहीं रह सकता। इन हिन्दीभाषी प्रदेशों को ही कुछ लोगों ने मध्य देश (मध्य प्रदेश नहीं) या आर्यावर्त का नाम दिया है। यह नाम देना उचित है या नहीं, इस बहस में बिना पड़े यह तो ईमानदारी से कहा जा सकता है कि केन्द्र की दृढ़ता के लिए ये मध्यवर्ती प्रदेश सदा से अधिक से अधिक कुर्बानी करते आये हैं, इसीलिए इस देश की अखण्डता कायम रही है। भले ही सीमावर्ती प्रदेशों में कुछ हेर-फेर हों, परन्तु मध्यवर्ती प्रदेश सदा दृढ़ केन्द्र के प्रति आस्थावान रहे हैं, इसीलिए भारत एक राष्ट्र भी रहा और अखण्ड भी रहा।

कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, सिक्किम में जनता ने केन्द्र के शासक दल को अस्वीकार कर दिया और अपने प्रादेशिक दलों का पक्ष लेकर उनको विजयी बनाया। इसी प्रकार प्रादेशिक दलों को तरजीह देने की प्रवृत्ति तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, कश्मीर और केरल में भी है ही। कभी-कभी ऐसा लगता है, कि जैसे देश की राजनीति दो हिस्सों में बँटती चली जा रही है। हिन्दीभाषी

भारत की राजनीति शेष भारत की राजनीति से कुछ भिन्न प्रकार की लगती है। हालांकि यह सरलीकरण इतना सीधा नहीं है, कि इसे एकदम नियम के रूप में घोषित किया जा सके। उसके कुछ अपवाद भी हैं। उस अपवाद के रूप में गुजरात और महाराष्ट्र को ले सकते हैं। उनकी लिपि जैसे हिन्दीभाषी भारत जैसी है, वैसे ही प्रायः वे राजनीति में भी हिन्दीभाषी भारत का ही साथ देते हैं। इस अपवाद में उड़ीसा को भी शामिल किया जा सकता है।

पूरे हिन्दी भाषीप्रदेशों में अभी तक कोई प्रादेशिक दल नहीं पनप पाया। गुजरात और महाराष्ट्र में भी नहीं। अलबत्ता उड़ीसा में प्रादेशिक दल अवश्य पनपा। कश्मीर, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में तो साफ-साफ जमे-जमाए प्रादेशिक दल हैं ही, पश्चिम बंगाल में भी मार्क्सवादी दल अब एक प्रादेशिक दल बनकर ही रह गया है। उड़ीसा में गणतन्त्र परिषद् के रूप में एक सबल प्रादेशिक दल रहा ही है। कर्नाटक में हेगड़े की विजय को प्रादेशिकता की विजय ही मानना होगा। केरल, सिक्किम, पंजाब, गोवा और पूर्वांचल के छोटे-छोटे प्रदेशों में अपने अपने प्रादेशिक दल हैं ही। हिन्दीभाषी प्रदेशों में भाजपा या दमकिपा (या लोक दल) ने कभी प्रादेशिकता को अपना आधार नहीं बनाया। यह अलग बात है कि हिन्दीभाषी प्रदेशों के बाहर राष्ट्रीय विपक्ष कहे जाने वाले इन दलों का कोई विशेष प्रभाव नहीं है।

काफी अर्से से केन्द्र का शासक दल इन हिन्दीभाषी और कुछ उनसे सटे हुए प्रदेशों से ही अपने जरूरी सीटें निकालकर सफल होता रहा है। जो कांग्रेस पहले अखिल भारतीय स्तर

पर हावी थी, अब वह जैसे हिन्दीभाषी प्रदेशों तक सिमटती जा रही है। इसका अर्थ यह नहीं कि देश की परिधि के निकटवर्ती प्रदेशों में कांग्रेस फिर शासक दल बनकर नहीं उभर सकती। परन्तु अन्नाद्रमुक तेलगुदेशम्, मार्क्सवादी पार्टी, नेशनल कांग्रेस कभी अपने-अपने सीमित दायरों से बाहर निकलकर हिन्दीभाषी प्रदेशों में कामयाब हो सकेंगी, इसकी कोई सम्भावना नहीं है। केन्द्रीय सत्ता को सुरक्षित करने के लिए हिन्दीभाषी प्रदेशों का सदा प्रबल आग्रह रहा, परन्तु शेष भारत की राजनीति में अपनी प्रादेशिक आवश्यकताओं के अनुरूप लगातार परिवर्तन होते रहे। राजनीति के अलावा सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी यह बात साफ दिखाई देती है कि यदि भारत में किसी दल या किसी आन्दोलन को सफल होना है तो वह तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक हिन्दी भाषी प्रदेशों में उसकी जड़ न जम जाय। परिधि के निकटवर्ती प्रदेशों के नेता भी भारत राष्ट्र की इस महत्ता को अनुभव करते रहे हैं। इसीलिए दक्षिण के भक्ति आन्दोलन की पूरी अभिव्यक्ति हिन्दीभाषी प्रदेशों में आकर हुई। केरल के आदि शंकराचार्य अपने अद्वैत की प्रतिष्ठा के लिए दक्षिण से उत्तर में आये और गुजरात के स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी को भी उनके अपने प्रदेशों से कहीं अधिक तत्परता के साथ हिन्दीभाषी प्रदेशों में ही अपनाया गया।

यह कहकर न तो हम हिन्दीभाषी प्रदेशों के अहम् की तुष्टि करना चाहते हैं, और न ही अहिन्दीभाषी प्रदेशों को कुछ आत्महीनता का बोध कराना चाहते हैं। परन्तु यह अवश्य कहना चाहते हैं कि भारत की इस विविधता को केन्द्रवर्ती और

सीमावर्ती दोनों प्रकार के प्रदेशों को समझने की आवश्यकता है। इन सबके मूल में एकात्मता की जो अन्तःसलिला बह रही है, उसे शासक दल को भी हृदयंगम करना पड़ेगा। प्रायः लोग विविधता की चर्चा करते करते उस एकता के सूत्र को भूल जाते हैं। उस सूत्र का नाम है—हिन्दुत्व, जिसने इन सब प्रदेशों को जोड़ रखा है। इसका एक ही उदाहरण काफी है—गंगा प्रदूषण को रोकने के अभियान का जैसा स्वागत हिन्दीभाषी प्रदेशों की या गंगा-जमना काँठे की जनता ने किया है उससे कम गैर-हिन्दीभाषा प्रदेशों की जनता ने नहीं किया होगा, क्योंकि गंगा के प्रति उनकी भी उतनी ही आस्था है। क्या कारण है कि प्रति वर्ष हिमालय के उत्तराखण्ड की यात्रा के लिए उत्तर भारत से अग्निक दक्षिण भारत के तीर्थ यात्री आते हैं। इसके उत्तर में ही हमारी स्थापना का मर्म छिपा है। ●

[१७ मार्च १९८५ ई०]

आर्य समाज को नया रूप दें

आर्य समाज को स्थापित हुए ११० वर्ष हो चुके हैं। इन ११० वर्षों में आर्य समाज कहीं से कहीं पहुँचा है, अगर इसकी तुलना अन्य धार्मिक संस्थाओं से करें तो आर्य समाज की प्रगति अभूतपूर्व दिखाई देगी। जहाँ आन्दोलन के रूप में आर्य समाज अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ, वहाँ संस्था के रूप में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संगठनात्मक दृष्टि से प्रजातन्त्र के आधार पर चलने वाली जैसी सुसंगठित और सुसूचित आर्य समाज की संस्था है, वैसी शायद ही अन्य कोई मिले। एक शताब्दी से अधिक के काल में सामाजिक सुधार या शिक्षा के क्षेत्र में, और राजनीतिक चेतना की दृष्टि से भी, जितना जन-जागरण आर्य समाज ने किया है, उतना कदाचित् और किसी संस्था ने नहीं किया। इस समय संसार भर में लगभग पाँच हजार आर्य समाजें होंगी और लगभग ५ करोड़ पंजीकृत आर्य समाजी होंगे। परन्तु जब 'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' के वैदिक घोष के अनुसार विश्व के स्तर पर सोचने लगते हैं तो हमें अभी तक किये गये अपने सारे प्रयत्न न कुछ के बराबर प्रतीत होते हैं।

हरेक युग की अपनी अलग-अलग चुनौतियाँ होती हैं और जो संस्था उस युग की चुनौतियों का सामना करने में समर्थ नहीं होती, वह संस्था समय पाकर लुप्त भी हो जाती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती विदेशी

दासता से भुक्ति प्राप्ति करना थी। उस उद्देश्य की प्राप्ति में जितना योग, अनुपात की दृष्टि से, आर्य समाज का है, इतना किसी अन्य संस्था का नहीं। राजनीतिक नेता या निहित स्वार्थों से घिरे इतिहास-लेखक कुछ भी कहते रहें, किन्तु स्वयं राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का इतिहास लिखने वाले श्री पट्टाभि सीता-रामैया यह उन्मुक्त भाव से स्वीकार कर गए हैं कि स्वाधीनता आंदोलन में कांग्रेस के झण्डे के नीचे सत्याग्रह में हिस्सा लेने वाले और जेलों में जाने वाले लगभग ८०% लोग आर्य समाजी विचारधारा से प्रभावित थे। अंग्रेज लोग इसीलिए आर्य समाज को सदा बिद्रोही और राजद्रोही संस्था समझते रहे। केवल अहिंसात्मक सत्याग्रह ही क्यों, हम तो यहाँ तक कहेंगे कि क्रांति-कारियों के रूप में हिंसा के माध्यम से स्वराज्य प्राप्त करने के लिए देश की बलिवेदी पर सहर्ष अपने प्राणों की बलि चढ़ाने वाले नवयुवकों में भी अधिकतर आर्य समाजी ही थे। केसरी सिंह बारहठ और रामप्रसाद बिस्मिल से लेकर भगतसिंह तक इनकी संख्या बिखरी पड़ी है।

हम सदा से कहते आये हैं कि आर्य समाज की दो भुजाएँ हैं—एक वेद और दूसरी राष्ट्र। आर्य समाज अपने जन्मकाल से ही जितना महत्व वेद को देता आया है, उससे कम महत्व उसने कभी राष्ट्र को नहीं दिया। इसीलिए जैसी अनन्य निष्ठा आर्यसमाजियों की वेद के प्रति है, वैसी ही अनन्य निष्ठा राष्ट्र के प्रति भी है। राष्ट्र के प्रति आर्य समाज के द्वारा की गई कुर्बानी का एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि स्वतन्त्रता-संघर्ष में जूझने वाले जहाँ अन्य लोग सत्ता-प्राप्ति के मोह में फँस गये, वहाँ आर्य समाज आज तक संस्था के रूप में कभी अपनी

उस कुर्बानी को भुनाने के लिए आये नहीं आया। यह आर्य समाजियों की निःस्वार्थ देश भक्ति का ऐसा ज्वलंत प्रमाण है, जो उनको सबसे अधिक निःस्वार्थ राष्ट्रभक्तों की कोटि में रखता है। जब किसी मुस्लिम नेता ने आर्य समाज के सम्बन्ध में अपनी ओर से यह उद्गार प्रकट किया था—“आर्य समाजी विचारचारा में न जाने ऐसी क्या विशेषता है कि आर्य समाज के सम्पर्क में आते ही व्यक्ति राष्ट्रभक्त बन जाता है” तो उसने गलत नहीं कहा था। यह राष्ट्रभक्ति आर्य समाज को अपने प्रवर्तक ऋषिवर दयानन्द से विरासत में मिली है। ब्राह्म समाज तथा प्रार्थना समाज आदि अपने समय की अन्य संस्थाओं के प्रति गुरुवर दयानन्द का यही तो आक्रोश था कि उनके मन में राष्ट्रभक्ति की भावना बहुत न्यून है।

इस नाते से हम यह भी कहते आये हैं कि असाम्प्रदायिक संस्था सही मायनों में कोई है तो केवल मात्र आर्य समाज ही है। क्योंकि जहाँ धार्मिक संस्थाएँ अपनी धार्मिक साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से त्रस्त हैं वहाँ राजनीतिक पार्टियों अपनी राजनीतिक साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हैं। राजनीतिक दलों ने अपनी-अपनी पार्टियों को एक सम्प्रदाय का ही रूप तो दे रखा है। इसीलिए उनको अपने दल से भिन्न किसी अन्य राजनीतिक दल में कोई भला आदमी नजर नहीं आता, आवे तब भी वे किसी न किसी तरह उसकी निन्दा करने का रास्ता ढूँढ निकालते हैं। यह बात जहाँ विपक्षी दलों के सत्तारूढ़ दल के प्रति रवैये से प्रकट होती है वहाँ सत्तारूढ़ दल द्वारा विपक्षी दलों के प्रति अपनाये गये रवैये से भी उतनी ही प्रकट होती है। जो लोग किसी भी व्यक्ति की योग्यता को

अपनी पार्टी या अपने सम्प्रदाय की सदस्यता के पैमाने से नापते हैं, सांप्रदायिक नहीं तो और क्या है ?

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् विदेशी सत्ता के हट जाने पर अब चुनौतियाँ भी बदल गई हैं। पहले स्वराज्य प्राप्ति की चुनौती थी अब सुराज्य प्राप्ति की चुनौती है। स्वराज्य प्राप्ति की चुनौती बहुत बड़ी थी। उससे निपटने में हमें लगभग पौन सदी लग गई। परन्तु सुराज्य प्राप्ति की चुनौती उससे भी कहीं बड़ी है। अब बीसवीं सदी समाप्ति की ओर अग्रसर है और इक्कीसवीं सदी की ओर हम आशा भरी नजरों से देख रहे हैं। १५ वर्ष की अवधि की स्वल्पता पर विचार करते हैं, तो स्वराज्य को सुराज्य में बदलने की यह चुनौती और महत्वपूर्ण बन जाती है। अभी ही विज्ञान ने मनुष्य के मानसिक और भौतिक जीवन में इतने परिवर्तन कर दिये हैं तो अगली सदी में ये परिवर्तन किस रूप में होंगे, यह नहीं कहा जा सकता। विज्ञान की उन वर्तमान और भावी चुनौतियों का सामना करने की तैयारी भी हमें अभी से करनी होगी।

जहाँ हम वैज्ञानिक चुनौती की बात करते हैं, वहाँ हम यह भी मानते हैं कि समस्त वैज्ञानिक उन्नति के मूल में जिसकी सबसे अधिक उपेक्षा हो रही है, वह है मनुष्य। औद्योगिक क्रांति ने जहाँ बड़े-बड़े कारखानों के निर्माण को महत्व दिया है वहाँ मनुष्य का निर्माण पिछड़ गया है। बड़े-बड़े सपनों के चक्कर में, समस्त उन्नति जिसके लिए की जा रही है उस बेचारे मनुष्य को हम सर्वथा भूल ही गये हैं। राष्ट्र निर्माण की पहली शर्त मनुष्य निर्माण है और जिस सुराज्य का स्वप्न हम लेते हैं, उसके मूल में इसी 'मनुष्य' को प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं।

विज्ञान धीरे-धीरे मनुष्य को भी मशीन बनाता जा रहा है। मनुष्य के दिमाग का स्थान कम्प्यूटर लेते जा रहे हैं और हार्दिक संवेदनाओं का स्थान मानसिक तनाव लेते जा रहे हैं। वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ मनुष्य के रागद्वेष भी बढ़ते जा रहे हैं। शरीर, मन और बुद्धि से सन्तुलित मानव दुर्लभ होता जा रहा है।

हमें प्राचीन और अर्वाचीन का समन्वय कर ऐसे मनुष्य का निर्माण करना है जिसे विज्ञान केवल पशुता की ओर अपसर न कर सके बल्कि उसके लिये देवत्व के द्वार खोल दे। मनुष्य के जितना निकट देवत्व है उतना ही निकट पशुत्व भी है। इन दोनों सीमाओं के बीच में मानव जीवन का प्रवाह दो तटों के बीच में बहने वाली नदी के समान प्रवाहित होता रहता है। ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज के छठे नियम में कहा है— 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।' इस नियम से भी यह स्पष्ट है कि संसार के मूल में मानव विद्यमान है। इसलिए मानव निर्माण आर्य समाज की पहली शर्त होनी चाहिए। इसके लिए आर्य समाज को किस तरह नया रूप दें—यह अगले पृष्ठों में पढ़िए। □

[२४ मार्च १९८५ ई०]

आर्य समाज को नया रूप दें (२)

हमने कहा था कि नये युग की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए अब हमें आर्य समाज को नया रूप देने की आवश्यकता है और उसका आधार होना चाहिए आर्य अर्थात् श्रेष्ठ मानव का निर्माण। संसार में ऐसी कोई संस्था नहीं है जिसने आर्य समाज की तरह संसार का उपकार करना अपना मुख्य उद्देश्य घोषित किया हो। आर्य समाज ने संसार के उपकार की ही अपना मुख्य उद्देश्य घोषित किया है और सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक और बुनियादी बात यह कही है कि संसार के उपकार के लिए हमें ऐसे मनुष्य का निर्माण करना है जो शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति से समन्वित हो। अर्थात् स्वस्थ तन स्वस्थ मन और स्वस्थ बुद्धि लेकर समाज की उन्नति में दत्तचित्त मनुष्यों का निर्माण करना ही संसार के उपकार की आधारशिला है। ऋषि दयानन्द की यह ऐसी मनोवैज्ञानिक विचारक है, जिस पर अन्य कोई विचारक इस रूप में नहीं पहुँचा।

अब आर्य समाज के सामने मार्ग बड़ा स्पष्ट है। सबसे पहले उसे शारीरिक उन्नति पर ध्यान देने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें लगता है कि शुरू में ही एक भूल हो गई। किन्तु अब भी उस भूल को सुधारा जा सकता है। वह भूल यह हुई कि हमने आर्य समाजों के साथ अखाड़ों का निर्माण नहीं किया। नहीं तो होता यह चाहिए या जहाँ किसी आर्य समाज की स्थापना हो,

वहाँ उसके साथ ही उसी के प्रांगण में अखाड़ा भी बनता। इस अखाड़े में हमारे नौनिहाल बच्चे कुश्ती सीखते, व्यायाम करते और स्वस्थ तन लेकर देश के समर्थ नागरिक बनते। अब भी प्रत्येक आर्य समाज के साथ अखाड़े की व्यवस्था हो। बालक और किशोर वहाँ मल्लयुद्ध का अभ्यास करें, आर्य समाज में ही उनके नहाने-धोने की व्यवस्था हो और उसके बाद यही किशोर प्रतिदिन आर्य समाज में सन्ध्या हवन में शामिल होकर बाद में शिक्षा प्राप्ति के लिए अपने-अपने विद्यालय में जायें। अगर ऐसी परम्परा चल पड़ती तो आज जो हमको यह शिकायत होती है कि आर्य समाज में युवक नहीं आते, वह शिकायत नहीं रहती। युवक व्यायाम के प्रति जितने आकर्षित हो सकते हैं, उतने केवल धर्म चर्चा के प्रति नहीं। इसलिए सन्ध्या हवन के साथ इस व्यायाम को रूप जोड़ना आवश्यक है।

इसके साथ ही आर्यकुमार सभाओं को और आर्य वीर दलों को—जिसमें आर्य वीरांगना दल भी शामिल है—पुनर्जीवित करना अत्यन्त आवश्यक है। कभी कभी कुछ लहर आती है तो कुछ युवक आर्य वीर दल के नाम से किन्हीं स्थानों पर एकत्रित हो जाते हैं। किन्तु देशव्यापी स्तर पर प्रत्येक आर्य समाज के लिए आर्य वीर दल की अनिवार्यता कहीं दिखायी नहीं देती। कभी आर्यकुमार सभाएँ विद्यार्थियों को आर्य समाज की ओर आकर्षित करने में बहुत बड़ा योगदान देती थीं। परन्तु अब आर्यकुमार सभा का संगठन भी निर्जीव हो चुका है। उसको पुनः सजीव करने की आवश्यकता है।

शारीरिक उन्नति के इस पहलू पर ध्यान देने के बाद आत्मिक उन्नति पर ध्यान दें। यज्ञ का मुख्य अभिप्राय निःस्वार्थ

कर्म की ओर प्रेरित करने से है। यदि नित्यप्रति ब्रह्म और देव यज्ञ करके भी मनुष्य के मन में निःस्वार्थ कर्म की प्रेरणा पैदा नहीं होती तो वह आत्मिक उन्नति या सामाजिक उन्नति के मार्ग पर आसानी से आगे नहीं बढ़ सकता। आत्मिक उन्नति के लिए सन्ध्या और अग्निहोत्र के साथ योगाभ्यास को भी जोड़ना होगा। साप्ताहिक सत्संगों में भी हम देखते हैं कि प्राणायाम मंत्र का केवल पाठ तो कर लिया जाता है किन्तु प्राणायाम के नियम का पालन नहीं होता। योगाभ्यास में केवल आसन या प्राणायाम ही शामिल नहीं है, बल्कि प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि भी शामिल हैं। यदि ध्यान, धारणा और समाधि ऊँचे स्तर की बातें हैं, तो कम से कम योगासन और प्राणायाम तो प्रत्येक आर्य समाज में नित्य कर्म का अंग बन ही सकता है। यह आत्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राणायाम पूर्वक ओम् का जप किसी भी विषय पर ध्यान को एकाग्र करने का अति उत्तम अनुभूत साधन है।

शारीरिक और आत्मिक उन्नति के पश्चात् हम सामाजिक उन्नति पर आते हैं। अपनी संस्कृति और अपने धर्म के विस्तार के लिए हमें अपनी शिक्षा को भी उसी साँचे में ढालना होगा। जिस शिक्षा में स्वभाषा, स्वधर्म और स्व संस्कृति का स्थान न हो, उस शिक्षा से आर्य समाज का कोई सरोकार क्यों हो? शिक्षा की दृष्टि से आर्य समाज ने जो नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं, वे एक तरह से राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श हैं। उन कीर्तिमानों को सुरक्षित रखते हुए हमें शिक्षा के क्षेत्र में सब विषयों के पठन-पाठन को अपनी राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़ना होगा। अभी तक हम इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र या और भी

कोई विषय पढ़ाते हैं, तो उसमें पाश्चात्य दृष्टि प्रमुख होती है और भारतीय दृष्टि नगण्य। इसका मूल कारण यह है कि आजादी से पहले अंग्रेज लोग हमको जिस मानसिक दासता का शिकार बना गये, हमारे देश के न तो व्यापक उस मानसिक दासता के विकार से बच पाये, और न ही हमारे राजनीतिक नेतागण। इसीलिए आजादी के बाद से शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन आज तक हो नहीं पाया। क्या उस परिवर्तन को करने के लिए आसमान से कोई देवता उड़नतश्तरी में बैठकर आयोगें ? इस परिवर्तन को व्यापक रूप देने की शुरुआत प्रत्येक आर्य समाज को करनी होगी। आर्य समाज के सिवाय किसी और संस्था में यह सामर्थ्य नहीं है। आर्य समाज के अन्दर या आर्य समाज के बाहर जितनी भी आर्य संस्थाएँ हैं, उनमें हमें अपने स्वप्नों के अनुरूप शिक्षा में परिवर्तन का वह रूप प्रस्तुत करना होगा जिसका सारा राष्ट्र अनुकरण कर सके। कम से कम प्रत्येक आर्य समाज में हिन्दी और संस्कृत के निःशुल्क शिक्षण की व्यवस्था तो की जा सकती है।

सामाजिक उन्नति का अगला पहलू है समाज के पिछड़े वर्गों को अपने साथ मिलाना। इसमें सन्देह नहीं कि दलित जनों की सेवा के लिए जो काम आर्य समाज ने किया है, वह आज तक किसी और संस्था ने नहीं किया। शुद्धि और अछूतोंद्वारा आन्दोलन उसके इसी मिशन के परिणाम थे। परन्तु राष्ट्रव्यापी स्तर पर अगर हम इन दोनों आन्दोलनों को विस्तृत कर सके होते तो आज देश में मुस्लिम या हरिजन समस्या नहीं होनी चाहिए थी। यहाँ हम फिर जोर देकर कहते हैं कि यह काम भी आर्य समाज के सिवाय किसी और संस्था के बस का नहीं है।

परन्तु आर्य समाज दिन-प्रतिदिन अभिजातवर्गीय लोगों की बपीती बनता चला जा रहा है और समाज के पिछड़े वर्ग उससे परे हटते जा रहे हैं। इसके लिए स्थान-स्थान पर हमको अनाथ आश्रम, विधवाश्रम के साथ-साथ सेवाश्रम भी खोलने होंगे, जिनमें देश के उपेक्षित बच्चों को, युवा वर्ग को और प्रौढ़ वर्ग को सेवा के माध्यम से राष्ट्र की धारा का अभिन्न अंग बनाया जा सके। जनता की सेवा करने का चिकित्सा भी अत्यन्त सशक्त माध्यम है। कुछ समाजों ने इस दिशा में अच्छा काम किया है। परन्तु अभी तक प्रत्येक आर्य समाज के साथ निःशुल्क चिकित्सालय की कल्पना करना भी बहुत दूर की कौड़ी लाना है।

सामाजिक उन्नति की अन्तिम कसौटी है जन सम्पर्क, जो जनतंत्र की जान है। आर्य जनों में जन सम्पर्क की जो तड़प पहले थी, वह अब दिखाई नहीं देती। अब हम आत्मतुष्टि की राह पर अधिक चलने लगे हैं।

हमें विश्वास है कि यदि हम आर्य समाज को इस सांघे में ढाल सकें तो नये युग की चुनौतियों का यह बड़े सशक्त ढंग से सामना कर सकता है और संसार के उपकार का सबल माध्यम बन सकता है। □

[३१ मार्च १९८५ ई०]

समाजमन्दिरों का उपयोग

देश का विभाजन हो जाने के कारण आर्य समाज की सबसे अधिक सम्पत्ति तो पाकिस्तान में छूट ही गई, परन्तु उसके बाद जहाँ-जहाँ हमारे विस्थापित पंजाबी भाई पहुँचे, उन्होंने वहाँ-वहाँ अपनी-अपनी बस्तियों में बड़े उत्साह से समाज मन्दिरों का भी निर्माण करना अपना कर्तव्य समझ लिया। इसका परिणाम भी सामने आया। विभाजन के पश्चात् राजधानी होने के कारण जनसंख्या का जितना दबाव दिल्ली पर पड़ा, सम्भवतः उतना दबाव किसी और शहर पर नहीं पड़ा। इसी कारण अनुपात की दृष्टि से शायद विभाजित भारत में सबसे अधिक विस्तार भी दिल्ली का ही हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य नगरों का विस्तार नहीं हुआ, यहाँ केवल अनुपात की बात कही जा रही है। आबादी के विस्तार के साथ-साथ दिल्ली में समाज मन्दिरों की संख्या का भी खूब विस्तार हुआ। जितने समाज मन्दिर विभाजन से पहले दिल्ली में थे, अब उनकी संख्या पहले से लगभग चौगुनी होगी। और कई समाज मन्दिर तो अपने आकार तथा अन्य दृष्टियों ने इतने विशाल और भव्य बने हैं, कि वे अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी ईर्ष्या की वस्तु हो सकते हैं। सम्पन्न कालोनियों में बनने वाले समाज मन्दिर तो कलात्मक दृष्टि से भी दर्शनीय बन गये हैं। उनमें से कईयों को तो 'अल्ट्रा-माडर्न' (अति आधुनिक) भी कहा जा सकता है।

समाज मन्दिरों की इस बढ़ती संख्या को देखकर और उनके आकारों तथा भव्यता को देखकर जहाँ मन में गर्व की अनुभूति होती है, वहाँ साथ ही आर्य समाज में पनप रही एक नई प्रवृत्ति का भी निदर्शन होता है। वह प्रवृत्ति है—आडम्बरप्रियता की। यह आडम्बरप्रियता कुछ तो युगीन परिस्थितियों की देन है और कुछ आन्तरिक आदर्शों के बजाय बाह्य टीपटाप को अधिक महत्व देने का परिणाम है। आजादी के पश्चात् भारत में गरीबी के सम्बन्ध में चाहे कितना आक्रोश मचा हो, परन्तु यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आजाद भारत में समृद्धि भी बहुत बढ़ी है। यह अलग बात है कि समृद्धि की वह लहर अभी तक अधिकतर शहरों तक ही सीमित है। अब आर्य समाज में जलसे, जलूस तथा इसी प्रकार अन्य प्रदर्शन के कामों में जितना धन और समय व्यय किया जाना है, उसका अल्पांश भी ठोस कामों की ओर नहीं। उदाहरण के लिए समाज मन्दिर चाहे कितने ही भव्य बन गये हों, परन्तु अभी तक एक भी समाज मन्दिर ऐसा नहीं है, जहाँ पुस्तकालय और वाचनालय की अच्छी व्यवस्था हो। इसका कारण भी यही है कि अब लोगों में स्वाध्याय के प्रति रुचि निरन्तर कम होती जा रही है। आर्य समाजों में प्रायः गम्भीर, शास्त्रीय सिद्धान्तपरक व्याख्यान सुनने को नहीं मिलते और शास्त्रियों के प्रति अरुचि भी इसी मनोवृत्ति का परिणाम है।

सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि अधिकांश समाज मन्दिर केवल रविवार के दिन खुलते हैं। वहाँ कुछ लोग सत्संग में एकत्र होते हैं और भजन, संध्या-हवन तथा किसी प्रवचन के पश्चात् विसर्जित हो जाते हैं। उसके बाद सप्ताह भर तक आर्यसमाज के पट बन्द रहते हैं। न समाज के मन्त्री और प्रधान

सप्ताह के बाकी छः दिनों में उधर जा सकते हैं और न ही अन्य अधिकारी गण । इसलिए कभी-कभी लोग आर्य समाज के सत्संगों की तुलना “सन्डे क्लबों” से करने लगें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । इसलिए मुख्य बात यह है कि समाज मन्दिर के द्वार केवल रविवार को दो घण्टे के लिए ही न खुलें, बल्कि सातों दिन और चौबीसों घंटे उनके द्वार सदा खुले रहें और वहाँ हर समय कोई न कोई जनोपयोगी कार्य चलता रहे । जब तक समाज मन्दिरों की जनोपयोगी कार्यों में रचनात्मक भूमिका नहीं होगी, तब तक चन्द आर्य समाजी भले ही वहाँ एकत्रित होते रहें, आम जनता के लिए वे सदा उपेक्षा के पात्र बने रहेंगे । वे जनोपयोगी कार्य क्या हो सकते हैं, उसके लिए भी बहुत अधिक ऊहापोह की आवश्यकता नहीं है । ऋषि ने संसार के उपकार करने का मूल उद्देश्य पूरा करने के लिए जो शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति का मंत्र बताया है, उसका केन्द्र हमें अपने समाज मन्दिरों को ही बनाना है ।

हम पहले भी संकेत कर चुके हैं कि प्रातःकाल बस्ती के बालक व्यायाम के लिए समाज मन्दिरों में इकट्ठे हों, वहीं कुश्ती का अभ्यास करें, या आर्यवीर दल की शाखा लगायें, वहीं उनके स्नातक की व्यवस्था हो और समाज मन्दिर में ही दैनिक सत्संग के रूप में वे सन्ध्या हवन में शामिल हों और फिर वहाँ से अपने-अपने विद्यालयों में पढ़ने के लिए जायें । समाज मन्दिरों में ही उनके लिए नाश्ते की व्यवस्था भी की जा सकती है । नाश्ते के नाम से भड़कने की आवश्यकता नहीं है । अगर योजना बनाई जाय तो हर एक बालक के लिए समाज मन्दिर में ही प्रातःकाल दूध की व्यवस्था कर सकना कठिन बात नहीं

होनी चाहिए। इसके लिए सब बालकों से मासिक शुल्क भी लिया जा सकता है। कुछ धनी लोग इसमें सहायक भी हो सकते हैं। अगर दूध नहीं तो अंकुरित अनाज नाश्ते के रूप में दिया जा सकता है जिसमें अंकुरित चने, मूंग या मोठ इत्यादि बारी-बारी से लिये जा सकते हैं। अंकुरित अनाज वाला नाश्ता अत्यन्त पोष्टिक और अत्यन्त सस्ता भी है। परन्तु तरह-तरह की मिठाइयों और तली हुई चीजों के प्रलोभन की गलत आदतों के कारण हमने प्रकृति के इस सबसे सस्ते और उपयोगी नाश्ते की उपेक्षा कर दी है।

उसके बाद जो बालक स्कूलों में नहीं जा पाते, उनके लिए हिन्दी और संस्कृत नि शुल्क सिखाने की व्यवस्था की जा सकती है। दोपहार को महिलाओं की सिलाई-बुनाई की कक्षा चलाई जा सकती है। शाम को आर्यकुमार सभा की बैठक की जा सकती है जिसमें उनके भाषाणादि की या बौद्धिक विचारों को देने की व्यवस्था हो। रात को प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाएँ चलाई जा सकती हैं। अपनी-अपनी सुविधा और सूक्ष्म बूझ के अनुसार इन कार्यक्रमों में हेर-फेर किया जा सकता है। परन्तु हमारा कहना यह है कि समाज मन्दिर सप्ताह के छः दिन समुद्र के किसी सुनसान टापू की तरह बना रहे, और सातवें दिन कुछ पक्षी वहाँ चहचहाने लगे, यह स्थिति वांछनीय नहीं है। इस प्रकार के कार्यक्रम नगरों के समाजमन्दिरों का प्रश्न है, वहाँ तो हम यह भी कहना चाहेंगे कि समाजमन्दिर पूँजी की प्रतीक शानदार इमारतों के बजाय ग्रामीण श्रम की प्रतीक ऐसी इमारतें होनी चाहिए, जो प्राचीन ऋषियों के आश्रमों का सा आभास दें। अगर उनमें पक्के सीमेंट वाले पर्श के बजाय गोबर

और मिट्टी से लिपा फर्श हो और उसकी छत भी सहरी इमारतों की तरह न होकर केवल फूस की बनी हो, तो ऐसे समाज मन्दिरों के साथ ग्रामीण जनता अधिक आत्मीयता अनुभव कर सकेगी। ग्राम-ग्राम में ऐसे समाज मन्दिर बनें। उनके साथ छोटी सी फुलवारी या खेती की जमीन हो जो बालकों के श्रम से ही सिंचित और फलित हो। प्रत्येक समाज मन्दिर में उसके पुरोहित या गुरु के रूप में एक एक वानप्रस्थी दम्पति रहे और वह ग्राम-ग्राम में गुरुकुलों के रूप में बालकों को शिक्षित करे। यह परिपाटी देश के वातावरण में बुनियादी ढंग से परिवर्तन लाने का माध्यम बन सकती है। यह केवल एक रूपरेखा मात्र है। अपनी कल्पना शक्ति से समाज मन्दिरों के उपयोग के इस ढाँचे में ऐसे अनेक रंग भरे जा सकते हैं, जो मानव निर्माण के महान उद्देश्य में अधिकाधिक सहायक हो सकें। □

[७ अप्रैल १९८५ ई०]

अग्नि-पथ का पथिक

हिमालय की उपत्यका में, घोर अरण्य में गाण्डीवधारी अर्जुन तपस्या कर रहा था। उसका संकल्प था कि अपने तप से देवाधिदेव शिवजी को प्रसन्न करके किसी तरह पाशुपत अस्त्र प्राप्त करना है, क्योंकि उसके बिना महाभारत के युद्ध को जीतना सम्भव नहीं था। पाण्डवों ने बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास में ही भावी महायुद्ध की आशंका से उसमें विजयी बनने के लिए धनुर्धारी अर्जुन पर सबसे अधिक विश्वास किया था और इसीलिए उन्होंने आपस में परामर्श करके अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए भेजा था। शिवजी आशुतोष भले ही कहे जायें, किन्तु कठिन परीक्षा लिये बिना वे अनायास प्रसन्न होने वाले नहीं थे। यों भी तपस्या के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के समक्ष मानसिक दृष्टि से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अपना उग्र रूप दिखाने से बाज नहीं आते। जो तपस्वी इन आन्तरिक शत्रुओं से विचलित हो जाता है उसका तप भंग होते भी देर नहीं लगती। जब इन्द्र द्वारा भेजी गई उर्वशी के मोह पाश में भी अर्जुन नहीं फँसा, तब शिव ने वेष बदल कर स्वयं अर्जुन की वीरता की परीक्षा लेनी चाही।

तपस्या-निरत अर्जुन के सामने से एक जंगली सूअर निकला। अर्जुन ने उस पर बाण-प्रहार किया। तभी अकस्मात् वह क्या देखता है कि पेड़ की ओट में छिपे एक किरात ने भी

उसी जंगली सूअर पर बाण फेंका। बनेला सूअर घायल होकर घराशायी हो गया, तो अर्जुन अपना बाण वापिस प्राप्त करने के लिए सूअर के पास पहुँचा। उधर से किरात भी पहुँचा। दोनों में इस बात पर विवाद हुआ कि यह सूअर किसके बाण से मरा है। अर्जुन कहता था—मेरे बाण से, और किरात कहता था—मेरे बाण से। बाण दोनों के लगे थे। यह निर्णय करना कठिन था कि किसके बाण से उस जंगली जानवर का प्राणान्त हुआ और उस शिकार पर किसका अधिकार है। अब आपसी विवाद से मामला तय नहीं हुआ, तो दोनों ने एक दूसरे को चुनौती दी। दोनों भिड़ पड़े। मल्ल-युद्ध होने लगा। किरात भी कोई मामूली पहलवान नहीं था। साक्षात् शिवजी ही तो किरात का वेश धारण करके अर्जुन की वीरता की परीक्षा लेने आये थे। परन्तु अर्जुन को हराना किरात वेशधारी शिव के लिए भी जब कठिन पड़ा, तो अन्त में शिवजी अपने असली रूप में प्रकट हो गये और अर्जुन से उसकी तपस्या और उसकी वीरता दोनों से प्रसन्न होकर कहा कि—“वर मांगो—क्या मांगते हो।”

जब अर्जुन को यह रहस्य पता लगा कि साक्षात् महादेव ही मेरी परीक्षा लेने के लिए आये हैं, तब उसने विनम्र भाव से उनके चरणों में प्रणाम किया और पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की अपनी मनोकामना प्रकट की। शिवजी ने प्रसन्न होकर उसे पाशुपतास्त्र तो दिया ही, साथ ही उसकी वीरता की और कठोर तपस्या की भी प्रशंसा की। तेज और ओज के संस्कृत के महा-कवि भारवि ने अपना “किरातार्जुनीयम्” नामक महाकाव्य महाभारत की इसी अर्ध-पौराणिक और अर्ध-ऐतिहासिक कथा को उपजीव्य बनाकर लिखा है। उस ग्रन्थ के नाम में ही ग्रन्थ

की केन्द्रीय भूत कथा का सारांश छिपा है। इसी प्रसंग में अर्जुन की तपस्या की प्रशंसा करते हुए महाकवि भारवि ने महादेव शिव के मुख से यह श्लोक कहलाया है—

त्वया साधु समारम्भ नवे वयसि यत् तपः ।

ह्रियते तादृशः प्रायः वर्षीयानपि मादृशः ॥

—इस नई उम्र में तुमने इतनी कुशलता से यह जो कठोर तप सम्पन्न किया है, उसको देखकर तो मेरे जैसे बुजुर्ग भी लज्जित हो जायेंगे।

इस श्लोक में जिस विशेष बात की ओर महादेव शिव ने ध्यान खींचा है, वह यह है—कि बुढ़ापे में जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तब तप और संयम के मार्ग पर चलना उतना कठिन नहीं होता जितना कि यौवन काल में। जवानी में जहाँ समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने विकास की पूर्ण पराकाष्ठा पर होती हैं और मानसिक आकांक्षाओं का भी पारावार हृदयान्तरिक्ष में उद्दाम वेग से लहराता है, उस समय अपने शरीर और मन की सब प्रकार की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना देना और अपने आप को किसी निश्चित उद्देश्य के लिए पूर्णतया समर्पित कर देना, सरल काम नहीं है। यह कठोर तप है। इस तप की कठोरता तब और बढ़ जाती है, जब यह तप जीवनव्यापी बन जाए।

जब कोई नवयुवक अपने छात्र जीवन में अपने सब साथियों से अधिक उज्ज्वल यश प्राप्त करके विश्वविद्यालय से और पुस्तकों की दुनिया से निकलकर बाहर की दुनिया में कदम रखता है, तब उसके मन में क्या-क्या स्वप्न होते हैं? अपने

जीवन में सुख और समृद्धि प्राप्त करने के लिए वह नया ग्रेजुएट अपने मन में क्या-क्या तूमार बाँधता है ? जिन तीन एषणाओं की चर्चा शास्त्रकारों ने की है लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा—ये तीन एषणाएँ भी तो उस समय पूरे यौवन पर होती हैं। वह युवक उस समय घरती पर नहीं चलता, उसके मन का रथ घरती से ऊँचा उठकर हवा में उड़ता है। आगामी जीवन में वे स्वप्न भले ही चकनाचूर हो जायें, परन्तु इससे यौवन के प्रारम्भ में युवा-मन के उस स्वप्न-भण्डार में कमी नहीं आती। यह नितान्त स्वाभाविक है और प्रत्येक अपने अनुभव से इसकी सच्चाई को जानता है।

भरी जवानी में उन सब स्वप्नों, एषणाओं, इच्छाओं, और आकांक्षाओं को लात मारकर जो अग्नि-पथ का वरण करते हैं, ऐसे व्यक्ति मशाल लेकर ढूँढने पर भी इतिहास में बहुत विरले ही मिलते हैं। महात्मा हंसराज ऐसे ही अग्नि पथ के पथिक थे। आधुनिक युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बन्धुवर हरिवंश राय जी बच्चन ने अपनी "अग्नि पथ" शीर्षक कविता में ऐसे पथिक को सम्बोधित करते हुए लिखा है—

ओ अग्नि-पथ के पथिक ! यह ध्यान रखना कि यह अग्नि पथ है। रास्ते में कहीं धने-धने छायादार और मोटे तनेदार बड़े-बड़े पेड़ मिल सकते हैं, परन्तु तू एक पत्ते से भी छाया की याचना मत करना। क्योंकि यह अग्नि पथ है और तूने उस पर चलने का व्रत लिया है। तेरे मार्ग में नाना रूपधारी प्रलोभन आयेंगे और बड़े त्रासदायी भय भी उपस्थित होंगे। पर तू शपथ ले कि तू क्षण भर के लिए भी कहीं रुकेगा नहीं, कहीं झुकेगा नहीं।" कविता के अन्त में बच्चन जी लिखते हैं—

यह महान् दृश्य है

चल रहा मनुष्य है

अश्रु, रक्त, स्वेद से लथ पथ, लथ पथ, लथ पथ ।

अग्नि-पथ, अग्नि पथ, अग्नि-पथ ॥

सचमुच ही, इस कृतघ्नता भरी दुनिया के व्यवहार से अधुसिक्त आँखें लिए, संघर्ष में जूझते हुए, अंग-अंग से लहुलुहान और फिर भी हार न मान कर निरन्तर श्रम में तत्पर रहने के कारण पसीने से सराबोर इस अग्नि-पथ के पथिक को देखने से बढ़कर दर्शनीय और महान दृश्य कौन सा हो सकता है ? विपरीत परिस्थितियों से लगातार संघर्ष करते हुए मनुष्य का यह एक अद्भुत चित्र है । क्या इस चित्र को देखकर उस पथिक के प्रति मन में दया नहीं उपजती ? उसकी हिम्मत के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं उमड़ता ? उसके प्रति क्या मुख से बारम्बार आह और वाह की ध्वनि नहीं निकलती ?

परन्तु महात्मा हंसराज उक्त अग्नि-पथ के पथिक के समान करुणा के पात्र नहीं है, क्योंकि उनकी आँखों में कहीं पश्चात्ताप का आँसू नहीं है । उनके शरीर का कोई अंग क्षतविक्षत और लहुलुहान नहीं है और उनके भस्त्रक पर थकावट के चिन्ह रूप श्रम-सीकर भी दृष्टिगोचर नहीं होते । क्योंकि स्वेच्छा से और दृढ़ संकल्प के साथ भरी जवानी में उन्होंने अग्नि-पथ का वरण किया था । उसमें कहीं टूटन नहीं है, रुदन नहीं है और पश्चात्ताप भी नहीं है । इसीलिए वह अक्षय प्रेरणा का स्रोत है ।

महात्मा हंसराज ने अपनी तपस्या के द्वारा जो पाशुपतास्त्र प्राप्त किया उसके बिना महाभारत-विजय सम्भव नहीं है । वह

पाशुपत अस्त्र वही है जिसे ऋषि दयानन्द ने सारे संसार के उपकार के लिए मूल आधार माना है। वह आधार है—मनुष्य की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति। इस त्रिविध उन्नति के बिना विश्व विजय संभव नहीं है। इस त्रिविध उन्नति के लिए देश और जाति के बच्चों के विकास के लिए ऐसी शिक्षा संस्थाएँ तैयार करना, जहाँ उनको इन तीनों उन्नतियों का अनुचित अवसर मिल सके—ही वह पाशुपत अस्त्र है जिसे महात्मा हंसराज ने ऋषि दयानन्द की स्मृति को अक्षुण्ण रखने और सारे संसार को आर्य बनाने के मन्त्र के रूप में पाया था। यही मन्त्र डी० ए० वी० आन्दोलन का आधार है।

अग्निपथ के इस अद्भुत पथिक के जीवन में अग्नि की ऊष्मा भले ही न दिखे, परन्तु उसका तेज निरन्तर परिलक्षित होता है। यह तेज जलाता नहीं, केवल रोशनी देता है। इस शान्त तेज को नमस्कार—‘नमः शान्ताय तेजसे’। □

[२१ अप्रैल, १९८५ ई०]

किसान से कसाई तक

हमारे पूर्वजों ने कहा था —

गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम्

—‘गायें’ हमारी हैं, हम गायों के हैं, जहाँ गायें हों, वहाँ हम हों।’ यह कहकर हमारे पूर्वजों ने गायों के साथ अपने अस्तित्व को पूरी तरह जोड़ दिया था। गायों के अन्दर समस्त देवताओं के निवास की कल्पना भी व्यर्थ नहीं है। जन जीवन के लिए गायों के महत्व को समझ कर ही वेद ने यहाँ तक कहा था कि ‘जो तुम्हारी गाय की हत्या करे उसे गोली से उड़ा दो।’ महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा भावे देश में गौ हत्या बन्दी का स्वप्न देखते-देखते चले गये। परन्तु उनका स्वप्न आज तक पूरा नहीं हुआ। भले ही भारत के संविधान में धारा ४८ में कहा गया हो—‘गाय-बछड़े और अन्य दूध देने वाले पशुओं के वध पर प्रतिबन्ध लगे।’ परन्तु जिस तरह संविधान की अन्य धाराओं का उल्लंघन होता है उसी प्रकार इस धारा के पालन की भी किसी को चिन्ता नहीं है। विज्ञान ने बहुत उन्नति की है पर आज तक बिज्ञान ऐसी मशीन नहीं बना पाया, जिसमें दाल-रोटी डालने पर रक्त तैयार हो सके और घास-फूस तथा पत्ते डालने पर दूध तैयार होकर बाहर निकल सके।

धार्मिक दृष्टि के अलावा आर्थिक दृष्टि भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में प्रतिवर्ष दुधारू गायों के साढ़े तीन करोड़ टन दूध मिलता है जिसकी कुल कीमत लगभग नब्बे अरब

रूपया होती है। ७ करोड़ बैलों के माध्यम से लगभग ३ करोड़ किलोवाट ऊर्जा मिलती है, जिसकी कुल कीमत ५० अरब रुपये के आसपास बैठती है। १८ करोड़ गायें और उनके वंशज तथा ६ करोड़ भैंसें और उनके वंशज लगभग ८४ करोड़ टन गोबर देते हैं। अगर उसका समुचित उपयोग गोबर गैस संयंत्र में किया जाय तो उससे भी ५० अरब रुपये की भोजन बनाने की गैस मिल सकती है। उस गोबर से जो खाद तैयार होगी, उसकी कीमत भी ३० अरब रुपये के आस-पास बैठेगी। इस प्रकार इन पशुओं से उपलब्ध सारी सामग्री का उपयोग किया जाय तो देश को लगभग दो खरब रुपयों की प्राप्ति होगी जो हमारे देश की सम्पूर्ण आय के १२ प्रतिशत के बराबर है। ये आंकड़े चौंकाने वाले हैं।

यदि इन पशुओं को कत्ल करके उनके स्थान पर ट्रक, ट्राली और ट्रैक्टरों की व्यवस्था करनी हो तो उनको चलाने के लिए पेट्रोल और डीजल की भारी मात्रा में आवश्यकता पड़ेगी। गोबर के स्थान पर रासायनिक खाद लाने के लिए जितनी राशि की जरूरत पड़ेगी, वह भारत की छठी पंचवर्षीय योजना से भी कहीं अधिक होगी। देश को पहले ही विदेशी व्यापार में अरबों रुपये के घाटे का सामना करना पड़ रहा है। ट्रकों, ट्रालियों और ट्रैक्टरों आदि के निर्माण के लिए जो अतिरिक्त लोहा चाहिए, उसके लिए देश की सीमित लघु उत्पादन क्षमता को देखते हुए कितना खर्च करना पड़ेगा, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। सारे देश को दूध से जो ह्रास घोना पड़ेगा, सो अलग। अगर इस समस्या पर रचनात्मक दृष्टि से विचार नहीं किया गया तो स्वर्गीय राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की यह चेतावनी पूरी होते देर नहीं लगेगी—

जारी रहा क्रम यदि यहाँ यों ही हमारे नाश का तो अस्त समझो सूर्य भारत-भाग्य के आकाश का। जो तनिक हरियाली रही वह भी न रहने पायेगी यह स्वर्ण भारत भूमि बस मरघट मही बन जायेगी।

भारत में गोवंश का नाश किस तेजी से हो रहा है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। प्रतिवर्ष ४ करोड़ ३० लाख पशु मारे जाते हैं। अहिंसा को परम धर्म मानने वाले इस देश में २८०० कसाई घर चल रहे हैं, जहाँ दिन रात इन पशुओं की गर्दन पर कुठाराघात होता है। भारत का शासक वर्ग इतना घनलोलुप है कि गोवंश की हत्या करके घन अर्जन करने पर भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। गौ मांस का उत्पादन प्रतिवर्ष बढ़ रहा है। जब खाड़ी देशों में २५० ६० प्रति किलो गोमांस बिकता हो तो गोमांस का निर्यात करके घन कमाने में किसी को लज्जा क्यों आवे ! जहाँ सरकार इतनी कठोर हृदय बन गई, वहाँ स्वयं भारतीय जनता इस विषय में इतनी उदासीन है कि उसको अपने भविष्य की बिल्कुल चिन्ता नहीं है। गौ हत्या बन्दी का आन्दोलन कभी-कभी सत्याग्रहों और मोर्चों के रूप में सुनाई देता है पर उसकी आवाज इतनी नगण्य होती है कि किसी के भी कान पर जूँ नहीं रेंगती। दूध और घी देश में दुर्लभ होता जा रहा है और वनस्पति घी के कारखाने आये दिन बढ़ते चले जा रहे हैं।

कभी-कभी ऐसा लगता है कि गो रक्षा के प्रति स्वयं भारत की जनता भी ईमानदार नहीं है। जो लोग इस समस्या को केवल धार्मिक दृष्टि से देखते हैं, उनके लिए तो जैसे यह जीवन और इस लोक से बाहर का विषय हो गया और जो केवल

आर्थिक दृष्टिकोण से देखते हैं, उनके सामने केवल पश्चिम का अर्थशास्त्र है। उनको पाश्चात्य लोगों की तरह ही गोमांस का निर्यात करके धन कमाने के लिए गोवध करने में कोई बुराई प्रतीत नहीं होती। कितनी बड़ी विडम्बना है कि गाय की पूजा करने वाले देश में केवल गाय की पूजा होती है, उसकी रक्षा नहीं होती। और अब स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि जिन्दा गाय की अपेक्षा मरी हुई गाय की ज्यादा कीमत उठती है।

हमारे धर्मध्वजी लोग बूढ़ी गायों के लिए गौशाला और पिजरापोल के नाम पर दान तो दे सकते हैं, परन्तु स्वयं गाय की अच्छी नस्लें तैयार करने की तपस्या को तैयार नहीं जिससे मृत गाय की अपेक्षा जीवित गाय अधिक मूल्यवान बन सके। जब जबानी जमाखर्च से ही धर्म की रक्षा हो, तो यह श्रम-साधना करने की क्या जरूरत है? किसी जराजीर्ण गाय को अपने पितरों के पिण्डदान के समय हरिद्वार के पंडे को दान करके जब चैतरणी पार की जा सकती हो, तो गाय की नस्ल सुधारने की जहमत कोई क्यों उठावे।

एक तरफ भारत जैसे धर्मपरायण देश में यह हालत है, और दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप में इस साल के आखिर तक ५ लाख गायों की केवल इसलिए हत्या कर दी जायेगी क्योंकि वहाँ दूध और मक्खन इतना अधिक हो गया है कि उनके पास उसके रख-रखाव की पूरी व्यवस्था नहीं हो पायेगी। जिन किसानों को पहले अधिक दूध उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था, अब उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि एक सीमा से अधिक दूध या दूध से बनी चीजों के उत्पादन पर

उन्हें जुर्माना देना पड़ेगा। ग्रीस और इटली को छोड़कर सारे पश्चिमी यूरोप में दूध और दूध से बनी चीजों की इतनी भार-मार हो गई है कि वे बड़ी संख्या में गायों को मारने की बात सोच रहे हैं। यह ठीक वैसी स्थिति है जैसी कि कभी अमरीका में गेहूँ अत्यधिक मात्रा में पैदा हो जाने पर लाखों टन गेहूँ केवल इसलिए समुद्र में फेंक कर नष्ट कर दिया गया था कि संसार में गेहूँ का भाव गिरने न पाये। पश्चिम की दुनिया दूध की बहुतायत से परेशान है और गौ भक्तों का यह देश दूध के अभाव में अपने बच्चों को कुपोषण का शिकार होते देखने को विवश है।

सबसे पहले शायद ऋषि दयानन्द ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने 'गो-करुणा निधि' नामक पुस्तक लिखकर गायों के सम्बन्ध में एक व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया था। जब-जब गौरक्षा आंदोलन की आंधी चली, तब-तब आर्य समाज ने भी पूरे मन से उसमें सहयोग दिया। पर हम समझते हैं कि यह समस्या मोर्चों से या केवल आन्दोलन से हल होने वाली नहीं है। इसके लिए रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना होगा और यह पहल भी आर्य समाज को ही करनी होगी।

खब पता लगा है कि भारत सरकार यूरोप से बीस हजार गायें मंगा रही है। क्यों न आर्य नेता सरकार से आग्रह करके सौ से लेकर एक हजार गायों तक प्राप्त करने का प्रयत्न करें और व्यवस्थित ढंग से डेरी उद्योग चलावें। यदि राधा स्वामी लोग दयालबाग जैसा औद्योगिक नगर स्थापित कर सकते हैं तो आर्य समाज क्यों न आर्य डेरी उद्योग नगर स्थापित करे। इससे जहाँ अनेक युवकों को रोजगार मिलेगा, वहाँ देश की बहुत

बड़ी कमी को पूरा करने का अवसर मिलेगा । यदि पूरी निष्ठा के साथ आर्य नेता गौ रक्षा के इस रचनात्मक दृष्टि को अपना लें तो उन्हें जनता के सहयोग की भी कमी नहीं होगी और इस उद्योग में घाटे का तो प्रश्न ही नहीं है । आर्य समाज की स्थापना की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में हम को इसी प्रकार के रचनात्मक कार्यों को अपना कर आर्य समाज के कार्य को नये रचनात्मक आयाम देने होंगे । □

[५ मई १९८५ ई०]

भिंडरावाले का भूत

श्री लोंगोवाल, श्री तोहड़ा, श्री तलवंडी और श्री बादल ने जेलों से छूटने के बाद जिस प्रकार के वक्तव्य दिये हैं, उनसे ऐसा नहीं लगता कि वे पंजाब की समस्या को सुलझाने में किसी भी दृष्टि से सहायक हो सकेंगे। उनके प्रति अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाने पर भले ही यह कहा जाय कि क्रोधाविष्ट सिख समाज में अपने आप को पुनः सुस्थापित करने के लिए और उग्रवादियों के कोप से अपने आपको बचाने के लिए उन्होंने यह नीति अपनाई है। क्योंकि इन सब नेताओं के बारे में सिख समाज में यह धारणा फैली हुई थी कि इन सबने सेना के सामने आत्मसमर्पण करके कायरता का परिचय दिया है। इसलिए अपने आपको पुनः सुखरू साबित करने के लिए वे इस प्रकार के बयान दे रहे हैं। परन्तु इस प्रकार के बयानों से उनकी बहादुरी सिद्ध नहीं होती, बल्कि उनकी कायरता पर बुजदिली का ठप्पा लग जाता है। नेता का काम जनता का सही मार्ग दर्शन करना होता है न कि जनता से डरकर उसकी रौ में बह जाना। अकाली राजनीति शुरू से जिस प्रकार के नेतृत्व के संकट की शिकार रही है, वही परम्परा ज्यों की त्यों कायम है। अकाली नेता आज तक कभी भी दूमुंही बातों से और दो नावों भर सवार होने की नटबाजी से बच नहीं पाये।

यह ठीक है कि दिल्ली में आकर श्री लोंगोवाल ने जितनी सभाओं में भाषण दिये और प्रेस कान्फ्रेंसों में जो बयान दिये,

उनसे काफी संजीदगी का आभास होता है। परन्तु इतने मात्र से यह नहीं समझा जा सकता कि इन अकाली नेताओं में कालोचित अक्ल के अभाव की बात अब नहीं रही। कुछ बुनियादी बातें ऐसी हैं, जिनके बारे में लोंगोवाल या तोहरा और बाःल जब तक स्वयं अपने मन में स्पष्ट नहीं हो जायेंगे, तब तक वे अपने अनुयायियों को भी बरगलाते ही रहेंगे। उदाहरण के लिए स्वर्ण मन्दिर में सैनिक कार्यवाही को वे सिखों का अपमान मानते हैं और यह भी कहते हैं कि अकाल तख्त ने हमेशा दिल्ली के तख्त का मुकाबला किया है। इस दिल्ली के तख्त से मुकाबले की चर्चा करते हुए वे उदाहरण मुगलकालीन तख्त का देते हैं। वे यह नहीं जानते कि अब दिल्ली का तख्त किसी गुलाम देश में सामन्तवादी या साम्राज्यवादी सत्ता का तख्त नहीं है, प्रत्युत वह आजाद भारत के जनतन्त्र में जनता के द्वारा निर्वाचित सरकार का तख्त है।

आश्चर्य की बात यह है कि चाहे अकाल तख्त के मुख्य ग्रन्थी हों, चाहे लोंगोवाल आदि अन्य नेता हों वे दिल्ली तख्त की चर्चा करते हुए कभी भी अंग्रेजकालीन दिल्ली तख्त की चर्चा नहीं करते। जिन अंग्रेजों के दिल्ली तख्त के सामने इन सिख-नेताओं ने “राज करेगा खालसा” वाली गुरवाणी का पाठ करना बन्द कर दिया था, जिनके चरण-चुम्बन को अपनी बहादुरी बताकर वे आज तक उसके गीत गाते नहीं रुकते, और उसी कथाकथित बहादुरी के कारण वे अब भी ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ और ब्रिटेन की प्रधान मन्त्री श्रीमती थैचर को अपने साथ हुए काल्पनिक अन्याय के निवारण के लिए मेमो-रेण्डम देने में गर्व अनुभव करते हैं, उस दिल्ली तख्त की चर्चा क्यों नहीं करते ?

पर हम यहाँ एक और तख्त की ओर ध्यान खींचना चाहते हैं, जिसके कारण दिल्ली तख्त को या अकाल तख्त को भी मान्यता प्राप्त होती है। अगर वह तख्त न हो तो न दिल्ली का कोई अस्तित्व होगा और न अकाल तख्त का। उस तख्त का नाम है “भारत तख्त”। यह तख्त कहीं और नहीं, भारत के ७० करोड़ निवासियों के अन्तःकरण में विराजमान है। यह तख्त राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का समर्थन करता है और जब कभी राष्ट्रीय एकता या अखण्डता पर संकट की घड़ी उपस्थित होती है तो इस भारत तख्त का एक-एक पुर्जा अपने तन-मन-धन को वार कर भी उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। भारतीय जन-मन-गण के इस तख्त की अनुमति के बिना न दिल्ली के तख्त का अस्तित्व है और न ही अकाल तख्त का। श्री लोंगोवाल तथा अन्य अकाली नेता यदि अकाल तख्त को इस भारत तख्त के विरोध में खड़ा करना चाहेंगे तो यह अपने मन में वे निश्चयपूर्वक समझ लें कि जब तक भारत का एक-एक राष्ट्रभक्त मौजूद है, तब तक वह इस भारत तख्त को न लांछित होने देगा और न ही अपमानित होने देगा।

इसके साथ ही दूसरी बात जो जुड़ी हुई है, उसका समाधान भी अपने आप ही हो जाता है। यदि ये सिख नेता स्वर्ण मन्दिर में सैनिक कार्यवाही को सिखों का अपमान समझते हैं तो क्या उनकी दृष्टि में आतंकवादियों द्वारा किया गया भारत का अपमान सिखों के अपमान से छोटा है? इनको प्रत्येक बात में सिखों का अपमान तो दिखाई देता है, परन्तु अपने द्वारा किया गया भारत का अपमान दिखाई नहीं देता क्योंकि उसके करने वाले उनके सिख बन्धु हैं। हम यह जानते हैं कि समस्त सिख

समाज के लिए यह बात सही नहीं है। और न ही सिखों का ८० प्रतिशत वर्ग उस भारत तख्त का अपमान सहने को तैयार है जिसका हमने ऊपर बिक्र किया है। परन्तु ये २० प्रतिशत लोम सारे देश की कनपटी पर अपनी पिस्तौल तानकर अपनी उचित-अनुचित सभी प्रकार की माँगें मनवाना चाहते हैं। आश्चर्य तो तब होता है, जब एक ओर तो अकाली नेता यह कहते हैं कि हम हिंसावाद के समर्थक नहीं हैं और कोई सच्चा सिख कभी हिंसा नहीं कर सकता, क्योंकि गुरु नानक का सन्देश तो आपस में प्रेम करना सिखाता है पर यही अकाली नेता इन्दिरा गाँधी के हत्यारे बेअन्त सिंह को शहीद कहते और सतवन्त सिंह को सरोपा भेंट करते नहीं शरमाते ! अगर वे सच्चे सिख नहीं थे, तो तुम्हारा उनसे क्या वास्ता ?

जब लोंगोवाल जैसे जिम्मेदार नेता यह कहते हैं कि आपरेशन ब्लू स्टार के दौरान दोनों तरफ से गोमियाँ सेना ही चला रही थी और वहाँ जो भी लोग थे सब निहत्थे थे और परिसर में जो टनों गोलाबारूद और हथियार भिन्न वे खुद सेना ने वहाँ रख दिये थे, तो दूसरे नेताओं से सत्य की क्या आशा की जा सकती है ? गनीमत यही है कि अभी तक किसी अकाली नेता ने यह नहीं कहा कि इन्दिरा गाँधी ने स्वयं बेअन्त और सतवन्त को अपने ऊपर गोली चलाने का आदेश दिया था। ये अकाली नेता जिस तरह अपने बयान बदलते रहे हैं, उससे उनकी विश्वसनीयता सर्वथा समाप्त हो चुकी है और उनकी अपनी आंतरिक कमजोरी तथा भीरुता प्रकट हो चुकी है। अगर तोहड़ा या लोंगोवाल ने कुछ भी दृढ़ता दिखाई होती तो भिडरा-वाले को भस्मासुर का रूप ग्रहण करने का अवसर न मिलता

और न ही पंजाब की समस्या सारे देश को बेचैन करने वाली समस्या बन जाती। एक तरफ गाँधी जैसा नेता था जो चोरी-चोरा काण्ड के कारण सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर सकता था, भले ही उसके अपने ही साथी इससे कितने ही खिन्न क्यों न हुए हों दूसरी ओर लोंगोवाल और तोहड़ा जैसे नेता हैं जो भिडरावाले का और उसके उग्रवादी अनुयाइयों का कभी खुलकर विरोध नहीं कर सके। अगर भिडरावाले को स्वर्ण मन्दिर से निकालने के लिए लोंगोवाल या तोहड़ा ने आमरण अवशम की घोषणा की होती तो क्या पंजाब का पासा पलट नहीं सकता था ? अब भी अगर लोंगोवाल इस प्रकार की घोषणा करें कि जब तक आतंकवाद समाप्त नहीं होगा, तब तक मैं समस्त अकाली आन्दोलन को वापस लेता हूँ तो क्या उससे पंजाब की समस्या के समाधान का उचित रास्ता नहीं निकल सकता ?

वास्तव में इन अकाली नेताओं की भीरुता का ही यह परिणाम है कि उनको अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए भिडरावाले के झूत का सहारा लेना पड़ता है। उनकी इसी कमजोरी को भांप कर उग्रवादियों ने भिडरावाले के ८५ वर्षीय वृद्ध पिता श्री जोगेन्द्र सिंह को माध्यम बनाकर अकाली दल के दोनों धड़ों को समाप्त करने की घोषणा करवा दी और ६ व्यक्तियों की तदर्थ समिति बनाकर पुनः अकाली आन्दोलन की सारी कमान बदनाम आतंकतादी नेताओं को सौंपने की तैयारी कर ली। अब श्री लोंगोवाल को अपनी भीरुता के इस परिणाम की भयंकरता का आभास हुआ, तभी उन्होंने कहा कि मैंने कोई इस्तीफा नहीं दिया और अकाली दल भंग भी नहीं हुआ,

बल्कि वह बरकरार है। मजेदार बात यह है कि तलवंडी ग्रुप जोगेन्द्र सिंह के साथ है और वह राजनीति से सर्वथा शून्य इस बूढ़े आदमी को अपनी गोटी बनाकर लोंगोवाल को मध से हटाने पर तुले हैं। किसी अकाली नेता में आत्मिक बल हो तो रास्ता निकल सकता है, नहीं तो भिडरावाले का यह भूत अकालियों का सर्वनाश करके छोड़ेगा। □

[१२ मई, १९८५ ई०]

नया खुमैनी : नया तख्त

उपनिषत्कार ऋषियों ने कहा था—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

बलहीन व्यक्ति आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा का अर्थ परमात्मा भी और अपना आप भी। इन दोनों की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार के बल की आवश्यकता है, वह शारीरिक बल नहीं, बल्कि आत्मिक बल ही है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से सोचा जाय तो मानसिक संकल्प के बिना शारीरिक बल प्राप्त करना भी सम्भव नहीं है। इस समय अकाली दल के नेता आत्मिक बल से हीन हैं। मानसिक संकल्प की दृष्टि से वे सर्वथा कोरे हैं, कापुष्यता के शिकार हैं, इसलिए वे अपने आप को प्राप्त करने और आप को संभालने में असमर्थ हैं। पंजाब सरकार ने उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करके अपने कर्तव्य का पालन ही किया है, परन्तु इससे किसी में आत्मिक बल का इंजेक्शन नहीं दिया जा सकता।

अकाली नेताओं की आत्मिक बल से हीनता की यह पराकाष्ठा है कि अपने आपको जीवित रखने के लिए उन्हें भिडरावाले के भूत का सहारा लेना पड़ रहा है। जो किसी मृतक व्यक्ति के सहारे से जीवित रहना चाहे, उसे जीवित कहने को कौन तैयार होगा ? जिस बेचारे जोगिन्दर सिंह का आज तक राजनीति से कभी कोई वास्ता नहीं रहा, और जो भिडरावाले के विचारों से भी पूरी तरह सहमत नहीं था, अब उस ५५ वर्ष

के निरीह व्यक्ति से भिडरावाले का बाप होने की कीमत वसूल की जा रही है। और जगह बाप के मरने पर बेटे के सिर पर पगड़ी बंधती है, यहाँ बेटे के मरने पर बाप के सिर पगड़ी बंधी है। पगड़ी बंधने के पश्चात् इस बुजुर्ग व्यक्ति ने उस पगड़ी की लाज रखने के लिए जिस “फण्डमेंटलिज्म” को आधार बताया है, उसके सहारे उसके मन में धीरे-धीरे ईरान का खुमैनी बनने की महत्वाकांक्षा पनप जाय तो आश्चर्य नहीं।

ईरान के खुमैनी ने जिस तरह शिया होकर अपने से भिन्न विचारधारा को मानने वाले ईराक को सुन्नी होने के कारण सबक सिखाने का ठेका लिया है, वह जहाँ शिया और सुन्नियों के चिरकालीन “काकोलूकोय” का प्रमाण है, वहाँ इस बात का भी प्रमाण है कि दोनों देश इस्लाम के अनुयायी होने पर भी एक-दूसरे को फूटी आँखों नहीं सुहाते। क्या पारस्परिक घृणा का यह विष-बीज ही संसार को इस्लाम की देन है? इस्लाम ही क्यों, ईसाइयत के विभिन्न सम्प्रदाय भी इसी प्रकार आपसी घृणा के शिकार हैं। उसका उदाहरण ब्रिटेन और आयरलैण्ड हैं। एक प्रोटेस्टैंट है तो दूसरा रोमन कैथोलिक। और चिर काल से ये दोनों एक ही पैगम्बर ईसा मसीह के अनुयायी होने पर भी कभी आपस में शांतिपूर्वक नहीं रह सके। जो अपने से इतनी घृणा करते हैं, उनका परायों के प्रति क्या रवैया होगा?

सेमेटिक मजहबों की यह घृणा की परम्परा अब अकाली दल ने अपनाई लगती है। जहाँ बाबा जोगिन्दर सिंह मन ही मन खुमैनी बनने के स्वप्न देखने लगे होंगे, वहाँ उनको पगड़ी पहनाने वाले उनके आतंकवादी चेले अब उन सब सिखों को ही

अपनी घृणा का शिकार बनाने पर तुल जायें, तो आश्चर्य नहीं, जो उनके आतंकवाद का समर्थन करने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार नहीं। अगर लोंगोवाल, बादल या तोहड़ा में कुछ भी आत्मिक बल होता तो वे कभी भी अपने सिर के ऊपर इस नये खुमैनी को न बैठने देते।

अब नये खुमैनी आ गये हैं तो उनके सिंहासन के लिए तख्त भी नया चाहिए। जब भिंडरावाले अकाल तख्त की शरण में गये थे तब श्री तोहड़ा ने कहा था कि भिंडरावाले तो बादशाह हैं, वे कहीं भी रहें, उनको कौन रोक सकता है। पर अब तो बाबा जोगिन्दर सिंह के रूप में उस तथाकथित बादशाह का साक्षात् बाप ही मौजूद है तो उसके लिए उस तख्त से कैसे काम चलेगा जिस तख्त पर उसका बेटा बादशाह बनकर बैठ चुका हो। शायद इसीलिए शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने अकाल तख्त को तोड़कर उसे फिर से बनाने का फैसला किया है।

तोहड़ा तो जब से छूट कर आये हैं, तभी से यह बात कह रहे हैं। अब तो शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने भी अकाल तख्त को तोड़ने का फैसला कर ही लिया है। अकाल तख्त किस तारीख को तोड़ा जायेगा और कार सेवा कौन संचालित करेगा, इसका फैसला कमेटी ने नहीं किया। इन दोनों मसलों पर फैसले का अधिकार कमेटी के अध्यक्ष गुरुचरण सिंह तोहड़ा को सौंपा गया है। परन्तु जिस दिन यह फैसला हुआ, उसी दिन शाम को श्री तोहड़ा ने कमेटी के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया। अब इन दोनों मसलों का फैसला कौन करेगा, भगवान जाने।

वर्तमान अकाल तख्त को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसको बुढ़ा दल के नेता निहंग बाबा सन्ता-सिंह ने दिन-रात एक करके पहले से भी अधिक भव्य रूप में खड़ा कर दिया है। सन्तासिंह के द्वारा निर्मित अकाल तख्त को शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी क्यों स्वीकार नहीं कर सकती, इसमें भी एक रहस्य है। कारण केवल यह नहीं है कि सन्तासिंह को पन्थ से निकाला गया है बल्कि उनको पन्थ से निकालने के पीछे भी एक रहस्य यह है कि सन्तासिंह मजहबी सिख हैं। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के सब ग्रन्थी उस अभिजातवर्गीय अभिमान के शिकार हैं जो इतिहास में ब्राह्मणवाद के नाम से मशहूर रहा है। जिस तरह पौराणिक ब्राह्मणों की दृष्टि में किसी हरिजन के स्पर्श की तो बात हो गया, उसके दर्शन मात्रा से देव मूर्ति अपवित्र हो जाती है, उसी तरह इन ग्रन्थियों की दृष्टि में बाबा सन्तासिंह के स्पर्श से अकाल तख्त अपवित्र हो गया है क्योंकि एक मजहबी (हरिजन) सिख ने उसे छू दिया है। इसी रहस्य का एक खुलासा यह भी है कि आज तक अकाल तख्त के ग्रन्थियों ने जिनको भी तनखईया घोषित किया, वे सब गैर-जाट मजहबी सिख ही हैं। आज तक किसी गैर-मजहबी सिख को ग्रन्थियों ने कभी तनखईया घोषित नहीं किया। अकाल तख्त के निर्माण के बाद इन्हीं ग्रन्थियों ने, जो कहने को छुआछूत नहीं मानते, इस अकाल तख्त को सन्ता-सिंह की छूत से हुई अपवित्रता से बचाने के लिए पहले दूध से धोया और उसके बाद सरोवर के जल से धोया। परन्तु सन्ता-सिंह का वह स्पर्श कैसा विधित था कि इतने महीनों तक ग्रन्थियों ने उस अकाल तख्त को पवित्र माना, और अब अचानक वह फिर अपवित्र होकर अस्वीकरणीय हो उठा

बाबा सन्तासिंह ने यह घोषणा की है कि बुढ़ा दल और मजहबी सिख अपना अलग अकाल तख्त बनायेंगे। इस विषय परिस्थिति में हमारा एक विनम्र सुझाव है। वह सुझाव यह है कि स्वर्ण मन्दिर में विद्यमान अकाल तख्त को तोड़ो मत, यह मजहबी सिखों को सौंप दो, जिससे उनको अपना अलग अकाल तख्त न बनाना पड़े। अपने आपको अभिजातवर्गीय मानने वाले अकाल तख्त के वर्तमान ग्रंथियों से हमारा करबद्ध अनुरोध है कि इस अकाल तख्त को ज्यों का त्यों रहने दो तथा एक और नया अकाल तख्त बनाओ, पर वह अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में नहीं, बल्कि लाहौर के पास ननकाना साहब में। गुरु नानक के जन्मस्थान से बढ़कर पवित्र स्थान और कौन-सा हो सकता है! जब अकाल तख्त वहाँ बन जायेगा तो उसकी पवित्रता को और चार चाँद लग जायेंगे।

यह कोई खाम खयाली का सुझाव नहीं है। सिख जन-मानस चिरकाल से ननकाना साहब को वैटिकन सिटी (रोम की पोप नगरी) का दर्जा देने की आकांक्षा पालता रहा है। बंगलादेश के युद्ध के दिनों में खालिस्तान के स्वयंभू नेता जगजीत सिंह चौहान अपने हाथ में ननकाना साहब की चाबियाँ लेकर पाकिस्तान के रेडियो और टेलीविजन पर उन चाबियों को दिखाते हुए भारत के विरुद्ध और पाकिस्तान के पक्ष में प्रचार करते रहे हैं। चाबियाँ उनके हाथ में होने का उद्देश्य जनता को यह बताना था कि पाकिस्तान की सरकार ननकाना साहब को वैटिकन सिटी का दर्जा देने के लिए नीम रजामन्द है। परन्तु बंगलादेश की लड़ाई समाप्त होते ही पाकिस्तान के टेलीविजन पर न वे चाबियाँ दिखाई दीं, न चौहान साहब दिखाई दिये। शायद तब पाकिस्तान को उनकी जरूरत नहीं रही थी।

हमारे सुझाव का एक ऐतिहासिक आधार भी है। देश के विभाजन के समय जिन ऐतिहासिक गुरुद्वारों को सिख बन्धु पश्चिमी पंजाब में छोड़कर आये थे, प्रायः उन सभी गुरुद्वारों के साथ उनके संचालनार्थ बड़े-बड़े भूखण्ड लगे हुए थे। मास्टर तारा सिंह ने सन् १९५५ में यह कहा था कि उन तमाम भूखण्डों के बदले पाकिस्तान शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी को रावी नदी के दूसरे किनारे पर स्थित करतारपुर के गुरुद्वारा डेरा बाबा नानक के आस-पास का, जहाँ गुरु नानक का देहान्त हुआ था, लगभग ४० वर्गमील का टुकड़ा दे दे। मास्टर जी का सुझाव था कि इस ४० वर्गमील में रहने वाले मुसलमान अन्य गुरुद्वारों के भूखण्डों पर जा बसें और इस ४० वर्गमील का भूमि को फसल पैदा करके या बाग लगाकर उसकी आय से अन्य गुरुद्वारों का संचालन किया जाए। यह ४० वर्गमील का भूमिखण्ड पाकिस्तान का ही रहेगा और इसकी आमदनी भी पाकिस्तान में ही खर्च होगी। परन्तु उस पर नियन्त्रण शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का रहेगा। मास्टर जी के सुझाव पर उस समय किसी पाकिस्तानी ने कोई आपत्ति नहीं की थी, प्रत्युत कुछ मुस्लिम नेताओं ने इस सुझाव का तत्काल स्वागत किया था।

अब हमारा निवेदन है कि यह नया अकाल तख्त अमृतसर के बजाय पाकिस्तान स्थित ननकाना साहब में बनाया जाय। हमें विश्वास है कि भारत की समस्त जनता ग्रन्थियों के इस अभियान में सहायक होगी। नये खुमैनी का नया तख्त भी बन जाएगा।

[२६ मई १९८५ ई०]

एक विनम्र सुझाव

इस समय देश में तीन शताब्दी समारोह चल रहे हैं। पहला है—दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह, दूसरा है—कांग्रेस शताब्दी समारोह और तीसरा है—डी० ए० वी० शताब्दी समारोह। तीनों ही शताब्दी समारोहों ने अपने-अपने ढंग से जनता को प्रभावित किया है और भविष्य में प्रभावित करने वाले हैं।

निर्वाण शताब्दी समारोह अब से दो वर्ष पूर्व अजमेर से प्रारम्भ हुआ था और उसके बाद भारत भर में विभिन्न स्थानों पर तत्सम्बन्धी समारोह हो रहे हैं। गत सप्ताह ही मेरठ में निर्वाण शताब्दी का शानदार समारोह हुआ है जिसमें उत्तर प्रदेश के सभी आर्य जनों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया और अपनी संगठन शक्ति का परिचय दिया। उससे पिछले सप्ताह कर्नाटक में निर्वाण शताब्दी समारोह हुआ और अगले सप्ताह ७ से ६ जून तक ऋषि दयानन्द की दीक्षाभूमि मथुरा में बलिदान शताब्दी समारोह हो रहा है। कांग्रेस का शताब्दी समारोह ६ मई को प्रातः दिल्ली के इन्दिरा स्टेडियम और साथ रामलीला मैदान में विशाल जनसभाओं से प्रारम्भ हुआ। डी० ए० वी० शताब्दी का अभियान भी प्रारम्भ हो गया है और उसके सम्बन्ध में विभिन्न समारोहों की शृंखला निकट भविष्य में प्रारम्भ होने वाली है।

निस्सन्देह, पिछले सौ वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में बड़े महत्वपूर्ण रहे हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और

शैक्षणिक—सभी क्षेत्रों में जो नवजागरण की लहर चली उसका सबसे प्रबल वेग शुरू के ५० वर्षों में रहा और बाद के ५० वर्षों में उसका परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। आधुनिक भारतवर्ष जो भी कुछ है, इन्हीं पिछले सौ वर्षों की उपज है और २१ वीं सदी में पदार्पण करने वाला भी वही भारतवर्ष होगा जो पिछले सौ सालों में तैयार हुआ है। गत शताब्दी के इसी नवजागरण का एक सर्वश्रेष्ठ फल देश की स्वतन्त्रता है। यदि सभी क्षेत्रों में नव-जागरण की यह लहर न चली होती तो सन् १९४७ में हम भारत के भाग्य-गगन पर स्वातन्त्र्य-सूर्य का उदय भी न देख पाते।

जिन तीन आन्दोलनों की शताब्दियों की चर्चा हमने ऊपर की है उनमें दो का सम्बन्ध आर्य समाज से है। ये तीनों आन्दोलन एक दूसरे के पूरक रहे हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग समझने की भूल नहीं करनी चाहिए—भले ही इनकी दिशाएँ और कार्यक्षेत्र अलग दीखते हों। असल में जैसे शरीर का स्वास्थ्य किसी एक अंग के पुष्ट होने पर नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीर के पुष्ट होने पर निर्भर होता है, वैसे ही किसी राष्ट्र का स्वास्थ्य भी केवल राजनीति केवल धर्म, केवल समाज सुधार या केवल शिक्षा पर निर्भर नहीं हुआ करता। एक भी अंग के दुर्बल होने पर राष्ट्र सबल नहीं हो सकता।

स्पष्ट रूप से कांग्रेस ने केवल राजनीति की दिशा पकड़ी, आर्यसमाज ने धार्मिक पाखण्डों के निराकरण और सामाजिक सुधार की दिशा पकड़ी, और डी० ए० वी० आन्दोलन ने शिक्षा की दिशा पकड़ी। इन तीनों आन्दोलनों ने गत सौ वर्षों में अपनी-अपनी दिशा में नए कीर्तिमान स्थापित किये।

कांग्रेस कुछ अंग्रेज-भक्त वकीलों से प्रारम्भ हुई, पर धीरे-धीरे वह दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और नेहरू के माध्यम से आजादी के लिए संघर्ष करने वाला सबसे प्रबल आन्दोलन बनती गयी। उसमें सभी वर्गों, सभी विचारों और सभी रंगों के लोग शामिल हुए। कहना न होगा कि आजादी के लिए आन्दोलन करने वाली कांग्रेस में आर्य समाजियों का योगदान सर्वाधिक रहा क्योंकि राष्ट्रप्रेम आर्य समाज की धृष्टी में है और खुले आम यह घोषणा की जा सकती है कि जो राष्ट्रभक्त नहीं, वह आर्य समाजी नहीं।

डी० ए० वी० का आन्दोलन भी आर्य समाज का ही आन्दोलन था और ऋषि के निर्वाण के पश्चात् होता-आर्य बन्धुओं ने ऋषि के स्मारक के रूप में इस आन्दोलन को खड़ा करके जैसे नया जीवन पा लिया। अपने प्रारम्भिक दिनों में इन आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, इसकी कल्पना करना आज कठिन है परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सारे पंजाब को ईसाई-बहुल बनाकर ब्रिटेन का शासन भारतवर्ष में अक्षुण्ण रखने का जो स्वप्न अंग्रेजों ने देखा था उस स्वप्न को किसी ने तोड़ा तो डी० ए० वी० आन्दोलन ने। डी० ए० वी० आन्दोलन की सफलता से परेशान होकर ही बाद में अंग्रेजों ने अलीगढ़ में मुस्लिम कालिज और अमृतसर में खालसा कालिज खोल कर इस देश में मुस्लिम सम्प्रदायिकता और सिख साम्प्रदायिकता की दागबेल डाली, जिसका दुष्परिणाम देश को भुगतना पड़ा।

उसी डी० ए० वी० आन्दोलन की शताब्दी के अवसर पर हम एक विनम्र सुझाव देना चाहते हैं। देश विभाजन के पश्चात्

जिस लाहौर में सबसे पहले डी० ए० वी० स्कूल और डी० ए० वी० कालेज की स्थापना हुई थी, वह लाहौर पाकिस्तान में चला गया। जो कभी अपना देश था, वह पराया देश बन गया। जोपीढ़ियों से पुश्त-दर-पुश्त वहाँ रहते आये थे, उन्हें अंग्रेजों की कूटनीति के कारण अपना वतन छोड़कर आना पड़ा। पर इससे इतिहास तो नहीं मिट जाता। यह इतिहास तो बदस्तूर कायम है कि डी० ए० वी० आन्दोलन की शुरुआत लाहौर से हुई। डी० ए० वी० स्कूल और डी० ए० वी० कालेज की इमारतें भी वहाँ मौजूद हैं ही। अभी तक हमने पाकिस्तान में छूटे समाज मन्दिरों और अपने स्कूल कालेजों की कोई खोज खबर नहीं ली। इस शताब्दी के अवसर पर तो कुछ करें। कम से कम इतना तो कर ही सकते हैं कि डी० ए० वी० शताब्दी का प्रथम समारोह लाहौर में उसी स्थान पर हो जहाँ सबसे पहले यह आन्दोलन कार्यरूप में परिणत हुआ था।

कितने ही बुजुर्ग मुस्लिम बुद्धिजीवी पाकिस्तान में आज भी जीवित होंगे जो कभी डी० ए० वी० शिक्षा संस्थाओं में पढ़े होंगे। सर सिकन्दर हयात खां और सर शहाबुद्दीन ने महात्मा हंसराज जी को अपना गुरु मानते हुए जो भावपूर्ण श्रद्धांजलि व्यक्त की थी, उसकी सार्थकता का अवसर आ गया है। यदि लाहौर में होने वाले डी० ए० वी० शताब्दी आन्दोलन के प्रथम समारोह का उद्घाटन पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया-

उल करें, तो कहना ही क्या ! इससे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में एक नया अध्याय प्रारम्भ हो सकता है और दोनों ओर के मानसिक तनावों की बहुत बड़ी बाधा दूर हो सकती है ।

क्या आर्य जनता और डी० ए० वी० शताब्दी समारोह के संचालक गण इस विनम्र सुझाव पर ध्यान देंगे ? □

[२ जून १९८५ ई०]

घल्लूधारा और राष्ट्रीय एकता

एक सरकस की बात याद आती है।

अटपटी और जनता को हँसाने वाली पोशाक पहने एक जोकर (विदूषक) सरकस के शामियाने के नीचे बने क्रीडाक्षेत्र में एक घोड़ा साथ लेकर आता है। थोड़ी देर बाद ही दूसरा जोकर आता है। वह पहले जोकर से घोड़े की ओर इशारा करके पूछता है—‘यह क्या है।’ पहला जोकर कहता है—‘घोड़ा है।’ दूसरा जोकर पूछता है—‘इस घोड़े को बेचोगे?’ पहला जोकर—‘हाँ बेचेंगे।’ दूसरा जोकर—‘खरीदने से पहले इसकी जाँच कर लें कि यह ठीक-ठाक है या नहीं।’ पहला जोकर—‘खूब अच्छी तरह जाँच लो, बिलकुल खरा माल है।’ तब दूसरा जोकर घोड़े के एक एक अंग पर हाथ फेरता जाता है और पूछता जाता है कि यह क्या है, यह क्या है। पहला जोकर बारी-बारी से बताता है—‘यह घोड़े की पीठ है, यह घोड़े की गर्दन है, यह गर्दन का अयाल है, यह मुँह है, यह पूँछ है, यह पेट है, ये टांगें हैं।’ तब दूसरा जोकर हक्का-हक्का होकर पहले जोकर से कहता है—‘तुमने मुझे यह तो बता दिया कि यह घोड़े की पीठ है, यह गर्दन है, यह मुँह है, यह पेट है, ये टांगें हैं, यह नहीं बताया कि घोड़ा कहाँ है। मुझे तो घोड़ा खरीदना है, उसके ये अलग-अलग अंग थोड़े ही खरीदने हैं।’ तब पहला जोकर उसकी पीठ पर हाथ मार कर कहता है—‘अरे पगले, इन सब अंगों को मिलकर ही तो घोड़ा बनता है। घोड़ा कहीं इनसे अलग थोड़े ही है।’

यही बात राष्ट्र के साथ भी है। जिन भिन्न-भिन्न प्रदेशों को मिलाकर राष्ट्र बनता है, यदि वे सब अलग अपनी अहमियत बघारें तो राष्ट्र नहीं रहता। जब तक वे भिन्न-भिन्न प्रदेश अपने आपको एक ही अंगी का अंग मानते हैं तभी तक वह एक राष्ट्र रहता है, अन्यथा भूखण्ड और घरातल ज्यों का त्यों सुरक्षित रहने पर भी वह एक राष्ट्र नहीं रह सकता। बिलकूल मनुष्य के शरीर और उस शरीर के विभिन्न अंगों वाली स्थिति है। जब तक शरीर में चेतना रहती है तब तक शरीर के सब अंग एक दूसरे के दुःख-दर्द से प्रभावित होते हैं। एक अंग में चोट लगे, तो सारा शरीर कराह उठता है। शरीर में आत्मा का अस्तित्व या चेतना ही उस एकत्व की अनुभूति की जननी है यदि चेतना निकल जाए तो मुर्दे के एक-एक अंग को काट डालने पर भी शरीर को कोई कष्ट नहीं होता। एकत्व की जननी चेतना जो चली गई।

इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता की आंतरिक भावना ही राष्ट्र के एकत्व का बोध कराती है। यदि वह भावना न रहे तो अपने या पराये राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं रहेगा। केवल भूखण्ड से राष्ट्र नहीं बनता। उस भूखण्ड के निवासियों की एकात्म भावना से ही राष्ट्र बनता है। यह ठीक है कि समान सुख-दुःख, समान जय-पराजय, समान इतिहास, समान पूर्वज, समान संस्कृति और समान विचारधारा भी राष्ट्रीय ऐक्य के निर्माण में सहायक होती है, परन्तु बड़े युद्धों के परिणामस्वरूप जब राष्ट्रों की सीमाएँ बदल जाती हैं तब उस बदली हुई सीमाओं वाले भूखण्ड को ही हम राष्ट्र मानने लगते हैं। उदाहरण के लिए, जब पाकिस्तान भारत का भाग था तब उस पर आक्रमण करने वाले

का मुकाबला करना भारतीय सेना अपना कर्तव्य समझती थी। पर पाकिस्तान बन जाने के पश्चात्, जब स्वदेश का ही एक भाग पराया देश बन गया, तो भारत की सेना को पाकिस्तान की सेना के साथ भी युद्ध करने में कोई संकोच नहीं हुआ। जब तक वह भूखण्ड हमारे साथ था हमारी राष्ट्रीय भावना उसके साथ थी। पर जब वह हमसे अलग हो गया तो उसके साथ हमारी एकात्मता की अनुभूति भी जाती रही।

इस राष्ट्रीय भावना का एक पहलू और है। जिस राष्ट्र को हम अपना समझते हैं उसकी रक्षा के लिए और उसकी समृद्धि के लिए व्यक्तिगत, जातिगत और दलगत स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र के व्यापक हितों के लिए कुर्बानी करते हैं। किसी परिवार के सभी सदस्य अपना श्रम, अपनी कमाई और अपना सब प्रकार का सहयोग जब तक प्रदान करते हैं, तभी तक वह परिवार ऐश्वर्यवद्ध होकर उन्नति के शिखर तक पहुँचता है। आपाधापी से जैसे परिवार नष्ट होते हैं वैसे ही राष्ट्र भी। मुख्य बात है—समष्टि के लिए व्यष्टि का त्याग। मनुष्य की सामाजिकता और राष्ट्र की नागरिकता तभी सार्थक होती है।

राष्ट्रभक्ति की पहचान यह है कि राष्ट्र का हरेक नागरिक अपने आप से यह पूछे कि मैंने राष्ट्र-हित के लिए क्या किया है अर्थात् अपने संकुचि स्वार्थों का किस हद तक परित्याग किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में राष्ट्र के नागरिकों में इस बात की होड़ रहती थी कि कौन राष्ट्र के लिए अधिक से अधिक कुर्बानी करता है। आज जमाना बदल गया है। आज लोग यह नहीं बताते कि हमने राष्ट्र के लिए क्या किया है, पर यह अवश्य

पूछते हैं कि राष्ट्र ने हमारे लिए क्या किया है। वे समझते हैं कि राष्ट्र उनसे भिन्न कोई अलग इकाई है। वे नहीं जानते कि राष्ट्र उनसे भिन्न कोई अलग इकाई नहीं है। वे नहीं जानते कि इन सब व्यक्तिगत इकाइयों का समुच्चय ही राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र के लिए निष्काम भक्ति ही असली राष्ट्रभक्ति है। जो सशर्त या सकाम राष्ट्रसेवा करता है, वह भक्ति नहीं, व्यापार करता है।

१ जून से घल्लूधारा सप्ताह की घोषणा करने वालों में राष्ट्रीय भावना का कितना अभाव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। न उन्हें सिख पंथ के अलावा, सिख पंथ ही क्यों—केवल अकालीदल के अलावा, कोई अन्य राष्ट्रवासी नजर आता है, न पंजाब के बाहर उनकी दृष्टि जाती है, न अकालतख्त की चहार-दीवारी के बाहर उनकी दुनिया है। उनका पूरा राष्ट्र और पूरी दुनिया इस देश के स्वल्पतम वर्ग तक ही सीमित है। इसी संकुचित दृष्टिकोण ने उनको सही राष्ट्रीय भावना से वंचित कर दिया है। और तो और, उन्हें पंजाब के बाहर रहने वाले अपने अन्य सिख बन्धुओं की भी चिन्ता नहीं है। इसी दिवान्धता के कारण वे आतंकवाद की निन्दा नहीं कर पाते, इसी कायरता के कारण वे उग्रवादियों को हिंसा से विरत नहीं कर पाते। अपनी रूग्ण मानसिकता के कारण, सारा राष्ट्र जिनको शहीद मानता है उनको शहीद मानने के बजाय वे उन लोगों को शहीद मानते हैं जिन्होंने कभी राष्ट्रहित के लिए कुछ नहीं किया। घल्लूधारा सप्ताह की घोषणा मानसिकता की उस पगडंडी की ओर ले जाती है जिसके सिरे पर राष्ट्र प्रेम नहीं, राष्ट्रद्रोह लिखा हुआ है। □

[६ जून १९८५ ई०]

राष्ट्रीय एकता की बुनियादें : (१)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे संविधान निर्माताओं ने समस्त राष्ट्र को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए संविधान में ऐसी धाराएँ रखी थीं जिन पर अमल किया जाता तो काफी हद तक राष्ट्र को विघटनकारी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ने से रोका जा सकता था। परन्तु जिनके हाथ में राष्ट्र की बागडोर थी उन्होंने उन धाराओं पर आचरण नहीं किया हालांकि उनका सारा जीवन राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष करते हुए ही बीता था। हमें अपने उच्चतम न्यायालय का इस बात के लिए धन्यवाद करना चाहिए कि उसने समस्त देशवासियों का इस असंगति की ओर ध्यान खींचा है।

पिछले दिनों शाहबानो बेगम के केस में उच्चतम न्यायालय ने जब यह फैसला दिया कि किसी भी तलाकशुदा औरत को अपने पति से इहत की अवधि बीत जाने के पश्चात् भी भरण-पोषण का खर्च पाने का हक है तब जनता पार्टी के मन्त्री सैयद शाहाबुद्दीन से लेकर संसत्सदस्य श्री सुलेमान सेठ तक लगुड़हस्त होकर उच्चतम न्यायालय के विरुद्ध जिहाद का नारा लगाने लगे कि इस प्रकार का फैसला मुस्लिम पर्सनल ला में हस्तक्षेप है। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने तो न्यायालय द्वारा दिये गये इसी प्रकार के पहले दो फैसलों की पुष्टिमात्र की थी। इस बार के फैसले में न्यायाधीशों ने जो एक और महत्वपूर्ण बात कही है उसके लिए तो राष्ट्रीय एकता के समस्त गुजारियों को न्याया-

धीशों का विशेष धन्यवाद करना चाहिए। न्यायाधीशों का कहना है कि संविधान का ४४ वां अनुच्छेद निर्देशात्मक सिद्धान्तों का भाग है। इस अनुच्छेद के अनुसार सरकार का यह कर्तव्य है कि वह समान नागरिक संहिता लागू करे परन्तु इस ओर ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए अब न्यायालय को ही सुधारक की भूमिका भी निभानी पड़ेगी।

आश्चर्य की बात यह है कि नेहरू जी जैसे राष्ट्रीय एकता के समर्थक और सामाजिक सुधारों के प्रबल पक्षधर व्यक्ति ने भी अपने शासनकाल में समान आचार संहिता की दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के तीव्र विरोध के बावजूद उन्होंने हिन्दू कोड बिल तो पास करवाया, परन्तु इंडियन कोड बिल नहीं, जब कि जरूरत इंडियन कोड बिल की थी। नेहरू जी के बाद अन्य कोई प्रधान मन्त्री भी उस विषय में ध्यान नहीं दे पाया। यदि सामाजिक रीति-रिवाजों में सुधारों की आवश्यकता थी तो वह सभी सम्प्रदायों के लिए थी, केवल हिन्दुओं के लिए ही थोड़ी थी।

नेहरू जी या अन्य नेता समान आचार संहिता की ओर कारगर कदम नहीं उठा सके तो उसका कारण सम्भवतः संविधान में उक्त अनुच्छेद के पारित होने के समय कुछ मुस्लिम नेताओं द्वारा उसका विरोध किया जाना था। उस समय संविधान सभा के ५ मुस्लिम सदस्यों ने उसका विरोध करते हुए कहा था कि समान आचार संहिता वाले अनुच्छेद (४४) से संविधान के ही एक दूसरे अनुच्छेद (१६) का उल्लंघन होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को अपने अन्तःकरण और अपने विचारों की स्वतन्त्रता का, किसी भी धर्म को मानने का

और उसके प्रचार की स्वतन्त्रता का हक है। तर्क यह दिया गया था कि यदि ४४ वां अनुच्छेद मान लिया जाए, तो १६ वें अनुच्छेद में प्राप्त अधिकार छिन जाएगा। एक मुस्लिम सदस्य ने तो साफ-साफ कहा था कि सारे देश में समान आचार संहिता लागू करने का क्या यह अर्थ है कि आप सब पर मिताक्षरा और दायभाग लागू करना चाहते हैं? परन्तु अन्त में सब मुस्लिम नेताओं ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि “एकसमान नागरिक संहिता हमारा लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु यह धीरे-धीरे और उससे प्रभावित होने वाले लोगों की रजामंदी से लागू होनी चाहिए।”

तब श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने यह स्पष्ट किया था कि संविधान के उक्त दोनों अनुच्छेदों में विरोध नहीं है, क्योंकि सामाजिक कल्याण के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार मूलतः संसद को रहेगा ही। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन के समय जब गुजरात में शरियत कानून लागू किया गया तो खोजा और कच्छी मेनन उससे असन्तुष्ट थे, क्योंकि वे पीढ़ियों से हिन्दू रीति रिवाज मानते आ रहे थे। परन्तु केन्द्रीय धारा सभा के मुस्लिम नेताओं के आग्रह के कारण खोजा और कच्छी समुदाय को अनिच्छापूर्वक उसे मानना पड़ा।

इसके अलावा प्रमुख विधिवेत्ता श्री अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर ने कहा कि अंग्रेजों ने अपराधों के सम्बन्ध में हिन्दू और मुसलमान पर समान रूप से ताजीरात हिन्दू लागू किया। उन्होंने इस विषय में कुरान के कानून की परवाह नहीं की। तब किसी मुस्लिम नेता ने ताजीरात हिन्दू का विरोध नहीं किया था।

संविधान निर्माण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले डा० अम्बेडकर ने यह रहस्योद्घाटन भी किया कि ब्रिटिश काल में मुस्लिम शरियत कानून सब मुसलमानों पर लागू नहीं था। सन् १९३५ तक सीमा प्रान्त के मुसलमानों पर भी हिन्दू कानून लागू होता था। सन् १९३६ में केन्द्रीय धारा सभा ने वहाँ भी शरियत कानून लागू कर दिया। उन्होंने यह भी बताया कि सन् १९३७ तक उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में उत्तराधिकार के मामले में मुसलमानों पर भी हिन्दू कानून ही लागू होता था। उत्तर मलाबार में, जो मातृ सत्ता-प्रधान है, वहाँ वही कानून हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों पर समान रूप से लागू होता था। अन्त में उन्होंने निष्कर्ष रूप में यह सुझाव दिया कि सबके लिए समान नागरिक संहिता बननी चाहिए, पर संसद यह प्रावधान कर सकती है कि यदि कोई मुसलमान सरकारी अधिकारी के सामने जाकर व्यक्तिगत रूप से यह बयान दे दे कि मुझ पर शरियत कानून लागू होना चाहिए, तो उसके बाद उस पर और उसके उत्तराधिकारियों पर शरियत कानून ही लागू होगा, समान नागरिक कानून नहीं। सन् १९३७ में उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में यही व्यवस्था की गई थी।

डा० अम्बेडकर के इस व्यवहारिक सुझाव को बड़ी आसानी से लागू किया जा सकता है। राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए समान आचार संहिता लागू हो। यदि कोई व्यक्ति उसे अपने ऊपर लागू नहीं करवाना चाहता, शरियत वाला कानून ही लागू करवाना चाहता है, तो वह सरकारी अधिकारी के सामने अपना हलफिया

बयान दे, और भविष्य में उस पर तथा उसके उत्तराधिकारियों पर जब तक उत्तराधिकारी उसके विरुद्ध और समान आचार संहिता के पक्ष में अपना बयान न दर्ज करवाएँ, तब तक मुस्लिम शरियत वाला कानून ही लागू हो, जिसमें चोरी करने पर हाथ काटने और ब्यभिचार करने पर संगसार करने की बात भी शामिल हैं।

मिस्र भी मुस्लिम देश है, पर वहाँ पहली पत्नी और न्यायालय की अनुमति के बिना कोई दूसरा विवाह नहीं कर सकता। ट्यूनीशिया ने एक ही प्रहार से बहुपत्नी विवाह पर रोक लगा दी है। अब वहाँ कोई भी तीन बार तलाक़ शब्द का उच्चारण करके इकतरफा तलाक़ नहीं दे सकता। पाकिस्तान ने भी पारिवारिक कचहरियों की स्थापना करके तलाक़ को अब इतना आसान नहीं रहने दिया है। इसका अर्थ यह है कि जिसे मुस्लिम पर्सनल ला कहा जाता है, यह इस्लाम धर्म का अंग नहीं, केवल ऐसा 'पर्सनल' विधान है जिसमें समय और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इसलिए राष्ट्रीय एकता के लिए बुनियादी शर्तों में समान आचार संहिता के महत्व को समझते हुए शरियत के तथाकथित कानून को उसमें बाधक नहीं बनने देना चाहिए।

इस पर समझदार मुस्लिम बन्धु सोचें, सरकार भी सोचे, और राष्ट्रीय एकता के उपासक समस्त राष्ट्रवादी भी सोचें।

□

(१६ जून १९८५ ई०)

राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (२)

महानल ! एकज दे चिनगारी

गुजराती के जिस कवि ने परमात्मा को अग्नि स्वरूप और तेज स्वरूप मानते हुए अपने जीवन में एक चिनगारी भर देने की प्रार्थना की थी, उसे शायद यह कल्पना नहीं थी कि एक समय ऐसा आयेगा कि जब सारा गुजरात आग की लपटों में धू-धू कर जल उठेगा। चिनगारी स्वयं महानल बन जायेगी, यह किसने कल्पना की थी ? जिस गुजरात को साबरमती के सन्त ने अपने जन्म से पवित्र किया और अहिंसा का पाठ पढ़ाया, वही “गर्बी गुजरात” इस प्रकार हिंसा का ताण्डव-स्थल बनेगा, यह किसने सोचा था ? आरक्षण विरोधी आन्दोलन गुजरात से पहले उत्तर प्रदेश बिहार, मध्य प्रदेश तथा अन्य राज्यों में भी चल चुके हैं। पर जैसी दुर्दमनीय स्थिति इस आंदोलन ने गुजरात में ग्रहण की है वह सारे देश की चिन्ता का विषय बन गई है। पिछले तीन मास में वहाँ लगभग १७० व्यक्ति मर चुके हैं, अखबारों के दफ्तर और व्यापारिक प्रतिष्ठान जलाये गये हैं, बसों और अन्य वाहनों को आग की भेंट किया गया है। आये दिन छुरेबाजी की घटनाएँ हो रही हैं, और अब इस अहिंसा-वादी राज्य में स्थान-स्थान पर देशी बम प्राप्त होने के समाचार भी आने लगे हैं। गुजरात क्रिधर जा रहा है ?

गुजरात के इस आरक्षण-विरोधी आंदोलन की गूंज प्रधान-मन्त्री श्री राजीव गांधी की अमेरिका यात्रा के समय भी सुनाई

दी। प्रधान मन्त्री को भी वहाँ यह कहना पड़ा कि यह समस्या बहुत गम्भीर है और हमें बैठकर शांतिपूर्वक इस समस्या के समाधान पर विचार करना है। पर शांतिपूर्वक विचार करने का अवसर कब मिल पायेगा ?

आश्चर्य की बात यह कि इस आन्दोलन को बढ़ाने में जहाँ स्वयं सरकार का और पुलिस बल का हाथ है, वहाँ विपक्षी दलों, अन्य असामाजिक तत्वों और निहित स्वार्थों का भी हाथ कम नहीं है। आंदोलनकारी नव रचना के बजाय नव विनाश का खेल खेल रहे हैं। इसीलिए गुजरात हाईकोर्ट के पूर्व न्यायाधीश श्री दीवान, विख्यात साहित्यकार और कवि श्री उमा शंकर जोशी और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री यशवन्त शुक्ल जैसे सदा-शयी व्यक्तियों से निर्मित नागरिक संगठन का बात भी वे मानने को तैयार नहीं हुए। इस नागरिक संगठन ने जो प्रस्ताव रखे, उन पर मुख्यमन्त्री माधव सिंह सोलंकी ने तो मन्त्री मण्डल की बैठक बुलाकर तुरन्त कार्रवाई की, और यह घोषणा भी कर दी कि सरकार ने पिछड़ी जातियों के आरक्षण के लिए १८ प्रतिशत का जो कोटा बढ़ाया था उस पर अभी अमल नहीं किया जायेगा, आंदोलन के दौरान जो छात्र गिरफ्तार किये गये हैं, उन्हें छोड़ दिया जायेगा और उपद्रवों की न्यायिक जांच की जायेगी। आन्दोलनकारी इन्हीं तीन मांगों को लेकर तो आंदोलन कर रहे थे परन्तु उसके बाद भी वे आंदोलन समाप्त करने को तैयार नहीं हुए। इसका अर्थ यह है कि इस आरक्षण के समर्थन और विरोध की राजनीति कहीं और ज्यादा गहरी है और वह मानसिक विद्वेष की पराकाष्ठा तक पहुँची हुई है।

यह बात भी अब स्पष्ट हो गई है कि आदिवासियों और

पिछड़े वर्गों के वोट प्राप्त करने के लिए सरकार ने जो १८ प्रतिशत आरक्षण बढ़ाने की चाल चली थी, उससे वह चुनाव में कामयाब भले ही हो गई, परन्तु गुजरात की राजनीति में उसने विष के बीज भी बो दिए। गुजरात की राजनीतिक स्थिति का पर्यालोकन करने से पता लगता है कि वहाँ एक तरफ ब्राह्मण, वनिये और पटेलों की राजनीति है तो दूसरी ओर उसका मुकाबला करने के लिए 'खाम' को तैयार किया गया है। यह खाम क्या है? क्षत्रिय, हरिजन, अहीर और मुसलमान (के० एच० ए० एम० KHAM—क्षत्रिय, हरिजन, अहीर और मुसलमान)। इस राजनीति के कारण अब आरक्षण का प्रश्न तो भूमिगत हो गया और यह आपसी जाति-विद्वेष उभर कर ऊपर आ गया इसी विद्वेष के कारण विचित्र गठबन्धन भी हो गये। अन्यथा हरिजनों और मुसलमानों के साथ अहीरों और क्षत्रियों के गठबन्धन की कोई तुक नहीं थी।

यह ठीक है कि संविधान में पिछड़े वर्गों के लिए साढ़े बारह प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था १० वर्ष के लिए थी और उस पर किसी को आपत्ति भी नहीं थी। पर वह अवधि बीत जाने पर भी आरक्षण का प्रतिशत निरन्तर बढ़ाया जाता रहा तो इसका विरोध स्वाभाविक था। इस समय उत्तर प्रदेश में ५४ प्रतिशत, मध्य प्रदेश में ७८ प्रतिशत और गुजरात में ७० प्रतिशत आरक्षण है। इसका अर्थ यह हुआ कि पिछड़े वर्गों को छोड़ कर बाकी जितने भी लोग हैं, उन सबको केवल इस २२-३० प्रतिशत कोटे में ही गुजारा करना पड़ेगा। जब इंजीनियरिंग और मेडिकल कालेजों में और सरकारी सेवाओं में इतना भारी भेदभाव हो, तब वर्ग-विहीन और जातिविहीन समाज की संरचना का स्वप्न देखना ही गलत है।

सन् १९५३ में काका कालेलकर की अध्यक्षता में जो आयोग बना था उसको पिछड़ेपन की परिभाषा निर्धारित करने का काम सौंपा गया था। उस आयोग ने अपनी यह स्पष्ट सम्मति दी थी कि आरक्षण का आधार जन्म जाति नहीं, बल्कि आर्थिक होना चाहिए। हमारे संविधान के निर्माताओं ने आरक्षण के लिए १० वर्ष की अवधि इसलिए निर्धारित की थी कि इस अवधि में पिछड़े वर्ग के लोगों को अन्य वर्गों के स्तर तक लाया जा सकेगा। अगर ऐसा नहीं हो सका तो यह जिम्मेदारी किसकी है? आर्थिक आधार के बिना जन्म जाति आधार पर आरक्षण देने का ही यह परिणाम हुआ है कि पिछले ३५ वर्षों से जो लोग विशेष सुविधाएँ प्राप्त करके समाज के अन्य वर्गों से किसी दृष्टि से हीन नहीं हैं, बल्कि सब दृष्टियों के सवर्णों के समकक्ष और उनसे भी ऊँचे स्तर पर विद्यमान हैं वे ही लोग आज भी इस आरक्षण का लाभ उठाते हैं। केवल हज़िजन और आदिवासी ही गरीब हैं सवर्णों में कोई गरीब नहीं है—इतना बड़ा झूठ कौन मानने को तैयार होगा? गरीबी की रेखा से नीचे जो करोड़ों लोग हैं क्या उनमें से केवल जन्मना पिछड़े वर्गों को ही आरक्षण का अधिकार है। क्या सवर्ण होना अभिशाप है और असवर्ण होना कोई वरदान है? इस अस्वाभाविक आरक्षण ने यही स्थिति पैदा कर दी है कि एक वर्ग योग्यता के उचित मानदण्ड पर न पहुँच कर भी इस वरदान का सुख भोगता है और दूसरा वर्ग परिश्रमपूर्वक योग्यता अर्जित करके भी अभिशप्त ही रहता है। यह स्थिति अधिक समय तक चलने वाली नहीं है। तृतीय श्रेणी में पास होने वाला विद्यार्थी इंजिनियरिंग और मेडिकल कालेज में प्रवेश पा सकता है और प्रथम

श्रेणी में पास होने वाला विद्यार्थी नहीं, तो प्रथम श्रेणी प्राप्त करने के लिए कोई परिश्रम क्यों करे ? क्यों न वह उचित अनुचित रूप से अपने आपको पिछड़े वर्ग का बताने का हलफ-नामा देता फिरे ! यह स्थिति राष्ट्रीय एकता के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय विघटन की ओर ले जाने वाली है। उचित यह है कि जन्म-जाति को छोड़कर वर्ण व्यवस्था को केवल गुण और कर्म के आधार पर माना जाय और योग्यता का सर्वत्र आदर किया जाय। यही मानव जाति के विकास का पथ है। दूसरा विकास का नहीं, ह्रास का पथ है।

पिछड़े वर्गों को योग्यता प्राप्त करने के लिए सब प्रकार के अवसर दीजिए, इसमें किसी को आपत्ति नहीं। परन्तु चयन जब हो तब केवल योग्यता के आधार पर हो। अन्यथा एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि जब कुछ वर्गों की ओर से यह मांग की जाने लगे कि ओलम्पिक खेलों में खिलाड़ियों का चयन भी योग्यता के आधार पर न होकर आरक्षण के आधार पर होना चाहिए। अब इस आरक्षण की अति की इति होनी ही चाहिए। जन्म को नहीं पुरुषार्थ और योग्यता को प्रश्रय देने से ही राष्ट्र आगे बढ़ेगा और राष्ट्रीय एकता कायम रहेगी, अन्यथा नहीं।

□

(२३ जून १९५५ ई०)

राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (३)

भाषा जोड़ती या तोड़ती है

जिस तरह अपनी जननी और जन्मभूमि से हरेक को विशेष लगाव होता है, उसी तरह अपनी मातृभाषा से लगाव होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम ने तो यहाँ तक कहा था—

अपि स्वर्णप्रयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।

जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

—लंका भले ही सोने की बनी हो और सुख समृद्धि तथा ऐश्वर्य से सनी हो, किन्तु लक्ष्मण ! “मुझे ऐसी लंका भी अच्छी नहीं लगती मुझ तो अपनी जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से बढ़कर लगती है।” इस श्लोक के उत्तरार्द्ध को संसार के एक एकमात्र धोषित हिन्दू राज्य नैपाल ने अपना ध्येय वाक्य बनाया है। अपनी मातृभाषा भी संसार की सब भाषाओं से बढ़कर लगे तो इसमें आश्चर्य क्या है। परदेश में जाकर अपनी मातृभाषा में बात करने वाले से अकस्मात् सम्पर्क होने पर कैसी सुखद अनुभूति होती है, यह भुक्तभोगी ही जानते हैं। उस समय वह विदेशस्थ बन्धु भले ही अपनी बिरादरी और अपने धर्म का अनुयायी न भी हो, किन्तु वही सबसे अधिक आत्मीय लगता है।

इस आत्मीयता को उपजाने वाली बात से स्वर्गीय प्रधान

मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी भलीभाँति परिचित थीं। इसलिए जिस भी प्रान्त में जाती थीं उसी प्रान्त की भाषा में अपने भाषण के शुरु में चन्द वाक्य बोलती थीं। इस प्रकार सभा में उपस्थित श्रोताओं को मृगध करने का गुरु मन्त्र उन्हें आता था। उनकी सफलताओं के अनेक रहस्यों में से एक यह भी है।

राष्ट्र एक ऐसी परिभाषा है जो प्रत्येक राष्ट्रवासी की जन्म भूमि से बहुत बड़ी परिधि है, परन्तु सारे राष्ट्रवासी समान रूप से उसके साथ अपनी आत्मीयता जोड़ते हैं, तभी वह राष्ट्र शब्द को सार्थक करता है। भले ही कोई व्यक्ति किसी अन्य राष्ट्र में जन्मा-पला-वड़ा हो परन्तु जब वह अमुक राष्ट्र की नागरिकता स्वीकार करता है तब वह जन्म भूमि वाली परिधि से आगे बढ़कर अपनी राष्ट्रीय भावना और अपने राष्ट्रीय कर्तव्य से अनुप्राणित होकर स्वीकृत राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने जन्म वाले राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने जन्म वाले राष्ट्र से लड़ने-मरने को भी तैयार हो जाता है। यही राष्ट्रीयता का तकाजा है। यह व्यक्ति की चेतना का विकास है। मूल रूप से हरेक व्यक्ति अपनी आदिम पाशविक प्रवृत्ति के कारण नितान्त स्वार्थी होता है। परन्तु धीरे-धीरे वह अपने बजाय अपने परिवार को, उसके बाद समाज को और उसके बाद राष्ट्र को महत्व देकर अपने स्वार्थों की कुर्बानी करना सीखता है। इसी का नाम संस्कृति है। इस विकास की अन्तिम सीढ़ी विश्व राष्ट्र कल्पना है जिसको वैदिक आदर्श की दृष्टि से “वसुधैव कुटुम्बकम्” में समाहित किया गया है। व्यक्ति से समष्टि और समष्टि से राष्ट्र—यदि इस प्रकार चेतना का विकास न हो और प्रत्येक

व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वार्थों में ही आबद्ध रहे, तो राष्ट्र का या राष्ट्रीयता का कोई मतलब ही नहीं होता ।

यही चेतना का विकास राष्ट्र के समस्त प्रतीकों के लिए आवश्यक है । जब एक बार सारे राष्ट्र ने अपने बहुमत से राष्ट्रीय संविधान या राष्ट्रीय ध्वज स्वीकार कर लिया तब किसी राष्ट्र के नागरिक को यह कहने का अधिकार नहीं बचता कि संविधान के निर्माण में या राष्ट्रीय ध्वज के निर्धारण में व्यक्तिगत रूप से मुझसे सम्मति नहीं ली गई । जब सरकार कोई कानून बनाती है, तो एक-एक व्यक्ति से पूछकर नहीं, बल्कि संसद में जनता के प्रतिनिधियों के माध्यम से कानून बनाती है । उसके बाद यदि कोई व्यक्ति इस आधार पर उस कानून का उल्लंघन करता है कि मेरी राय लिये बिना यह कानून बनाया गया है तो वह व्यक्ति कानून के उल्लंघन से मिलने वाले दण्ड से बच नहीं सकता । यही बात हम राष्ट्र भाषा के साथ भी जोड़ना चाहते हैं । सारे राष्ट्र ने जिसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया है, भले ही वह किसी की मातृभाषा हो; उसका पूर्ण सम्मान करना ही राष्ट्रीयता की निशानी है ।

जब नेहरू जी ने सोवियत संघ की नकल पर भाषावार राज्यों के निर्माण का निश्चय किया था, तब १९६३ में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने राष्ट्र को चेतावनी देते हुए कहा था—“पुराने शासन ने जो बहुभाषी प्रान्त बनाये थे, वे अपनी-अपनी सीमाओं में एक से अधिक भाषा बोलने वाले समुदाय में सामंजस्य स्थापित करते हुए पूरे राष्ट्र से जोड़ रखते थे । परन्तु एक भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण ने इस प्रक्रिया को

रोक दिया है। हरेक राज्य में अपने आपको अलग इकाई मानने का एक-एक अभियान और एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक रूप पनपने लगा है। इससे अखिल भारत की एकता को भारी धक्का लगा। उन सबको बाँधने वाला तत्व केवल एक केन्द्रीय सरकार रह गई। विदेशी दासता से मुक्ति दिलाने की उसकी छवि ज्यों-ज्यों धीमी पड़ती जायेगी, त्यों-त्यों भारत विघटन की ओर बढ़ता जायेगा। अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के बजाय प्रान्तीय राष्ट्रवाद उत्तरोत्तर बढ़ता जायेगा।..... दूर भविष्य की दृष्टि से यह तस्वीर अन्धकारपूर्ण है।”

राजा जी की यह भविष्यवाणी किस तरह चरितार्थ होती जा रही है, यह हमारी आँखों के सामने है। गुजरात और महाराष्ट्र को अलग करने पर जैसी मार-काट हुई थी, वह राष्ट्रवाद के बजाय प्रान्तवाद की ही पोषक अधिक थी। उसके बाद श्री रामुलु के आत्मदाह से आन्ध्र प्रदेश बना और अब तेलगुदेशम की स्वायत्ता की समर्थक तेलगुदेशम पार्टी भी बन गई। इसी प्रकार का प्रान्तीय स्वायत्ततावाद तमिलनाडु और बंगाल में भी पनपा। इसी की चरम पराकाष्ठा पंजाब के अकाली आन्दोलन में दिखाई दी। यदि भाषावार राज्यों का निर्माण न होता तो इन विभिन्न राज्यों में अपनी प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से प्रान्तीय राष्ट्रवाद भी न पनपता। भाषावार राज्यों के निर्माण से एक अनर्थ यह भी हुआ कि आजादी से पहले जिन अहिन्दीभाषी प्रान्तों में अपनी राष्ट्रवादी मनोवृत्ति के कारण समस्त राष्ट्र कवियों में हिन्दी के प्रति प्रेम दिखाई देता था, वह हिन्दी प्रेम नदारद हो गया और वे ही राष्ट्रकर्मी प्रान्तीय भाषा

के पुरोधा बन कर आन्दोलन करने लगे। यह राष्ट्र की एकता के लिए सबसे बड़ी चुनौती है।

एक राष्ट्र होने का अभिप्राय यह है कि भारत की सब नदियाँ, सब पहाड़, और सब प्राकृतिक सम्पदा समग्र भारत की है, किसी एक प्रान्त की नहीं। परन्तु भाषावार राज्यों के निर्माण के पश्चात् विभिन्न राज्यों में इन नदियों को लेकर भी विवाद प्रारम्भ हो गये। नदियों के अलावा दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और चण्डीगढ़ जैसे महानगरों पर भी एक भाषा-भाषी अपना अधिकार जताने लगे जबकि वास्तविकता यह है कि इन महानगरों के निर्माण में देश के अनेक भाषा-भाषियों का हाथ रहा है।

राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से भाषावार राज्यों का निर्माण राष्ट्रीय एकता में कितना ही बाधक क्यों न रहा हो, किन्तु यदि राष्ट्रीय एकता को कायम रखना है तो हमें किसी ऐसी एक राष्ट्रभाषा को अवश्य प्रमुखता देनी होगी, जो इन सब प्रान्तों को जोड़ने का काम करती हो। वह भाषा केवल हिन्दी हो सकती है, कोई और भाषा नहीं, यह निर्विवाद है। जब तक वहाँ अंग्रेजी मौजूद है, तब तक वह हिन्दी को अपनी दासी ही बनाये रखेगी। इसलिए राष्ट्रीय एकता की अगली शर्त यह है कि किसी भी राज्य में वहाँ की प्रादेशिक भाषा का रूप सम्भार होते हुए भी हिन्दी की उपेक्षा किसी भी स्तर पर न हो। उसे वही दर्जा मिले, जो सोवियत संघ में रूसी भाषा को प्राप्त है। हिन्दी के प्रति आग्रह राष्ट्रीय एकता के प्रति आग्रह है। तोड़ने के बजाय भाषाओं को जोड़ने का माध्यम बनाओ। □

(३० जून १९८५ ई०)

राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (४)

राज्यों की स्वायत्तता का प्रश्न

केठोपनिषद् में एक कथा आती है—

“एक बार देवताओं को अपनी शक्ति का अभिमान हो गया और वे यह समझने लगे कि सृष्टि का निर्माण करने वाले और उसकी रक्षा करने वाले हम ही हैं, हमसे बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। तब देवताओं के इस अभिमान को तोड़ने के लिए वहाँ यक्ष उपस्थित हुआ और उसने पहले अग्नि देवता की परीक्षा ली। यक्ष ने अग्नि से पूछा कि अग्नि देव ! आपकी क्या विशेषता है। अग्नि देव ने गर्वपूर्वक कहा कि मैं संसार की प्रत्येक वस्तु को भस्म कर सकता हूँ। यक्ष ने अग्नि देव के सामने एक तिनका रखा और कहा कि इसको भस्म करके दिखाइये। अग्नि देव ने बड़ा जोर लगाया पर वे उस छोटे से तिनके को भस्म नहीं कर सके।

उसके बाद पवन देव की परीक्षा का प्रसंग आया। वे भी जब यक्ष के सामने साक्षात्कार के लिए उपस्थित हुए तो यक्ष ने पूछा कि आपकी “क्वालिफिकेशन” क्या है? पवन देव ने अपना जीवन परिचय (बायोडेटा) प्रस्तुत करते हुए कहा कि मैं संसार की प्रत्येक चीज को उड़ा सकता हूँ। यक्ष ने उनके सामने भी एक तिनका रखा और कहा कि इसे उड़ा कर दिखाइये। परन्तु पवन देव अपना पूरा बल लगाकर भी उस तिनके को नहीं उड़ा सके।

तब देवताओं के राजा साक्षात् इन्द्र आये। इन्द्र को आता देख यक्ष अपने आसन से उठकर चले गये। तब वहाँ उमा नाम की एक परिचारिका—उसे यक्ष की निजी सचिव कह लीजिए—उपस्थित हुई। इन्द्र ने उससे पूछा कि यह यक्ष कौन था और अब कहाँ चला गया। तब उमा ने बताया कि यही तो साक्षात् ब्रह्मा था। इसी की शक्ति से सब देवताओं को शक्ति प्राप्त होती है। यदि इसका आधार न रहे तो सब देवता भी शक्ति-शून्य हो जाएँ।”

जिस तरह की बात देवताओं और यक्ष के साथ है, बहुत कुछ वैसी ही बात विभिन्न राज्यों और राष्ट्र के साथ भी है। जब प्रादेशिक भाषाओं के आधार पर निर्मित राज्य अपनी स्वायत्तता का राग अलापने लगते हैं तो उनके मन में अपने आपको अलग राष्ट्र समझने का अहंभाव उत्पन्न होने लगता है और वे यह भूल जाते हैं कि राज्यों की असली शक्ति उस केन्द्रीय सत्ता से आती है, जो राष्ट्र का संचालन करती है। अगर राज्य राष्ट्र की केन्द्रीय शक्ति की अवहेलना प्रारम्भ कर दें तो राष्ट्र की एकता और अखंडता सुरक्षित नहीं रह सकती।

राज्यों के अहं का स ते ताजा उदाहरण हाल में ही असम और नागालैंड की सैनिक टुकड़ियों की आपसी मुठभेड़ है। हालांकि ये दोनों राज्य एक ही राष्ट्र की केन्द्रीय सत्ता के अधीन हैं और दोनों राज्यों में कांग्रेस (आई) की ही सरकार शासनाखुद है फिर भी वोखा-गौलाघाट की अन्तर्राज्यीय सड़क की चौकी के पास मेरायानी नामक स्थान पर दोनों राज्यों के सैनिक आपस में इस तरह लड़े जैसे दो शत्रु देश लड़ते हैं। असम सीमा में ढाई हजार सैनिक और दूसरी ओर भी लगभग इतने ही

सैनिक अपने-अपने अहं भाव के बशीभूत होकर इतने नृशंस हो गये, कि वे यह भूल गये कि हम एक ही राष्ट्र के निवासी हैं। असम की सशस्त्र पुलिस के २६ व्यक्ति मारे गये, ६० व्यक्ति घायल हुए और १५ अभी तक लापता हैं। इसके अलावा नागालैण्ड की सशस्त्र टुकड़ी ने मशीनगन और बमों का प्रयोग किया और ७ हजार घर तथा दुकानें जला दीं। मेरापानी के आस-पास बसने वाली आबादी के २५ हजार लोग अपने घरों को छोड़कर भाग गये। हालांकि अब वहाँ स्थिति शांत है और दोनों राज्यों की सरकारों के मुख्यमन्त्रियों ने आपस में मिलकर बातचीत के द्वारा यह भी समझौता किया है कि भविष्य में ऐसी वारदात न हो परन्तु कौन कह सकता है कि दोनों राज्यों के अहं में फिर उबाल नहीं आयेगा? क्या किसी एक राष्ट्र के अंग-भूत अलग-अलग घटकों में इस प्रकार की नृशंसता की कल्पना सहज है?

हम पहले भी कह चुके हैं कि राष्ट्र के सब घटक मिलकर जब तक अपने अहं की कुछ कुर्बानी राष्ट्र की अस्मिता के लिए नहीं करते तब तक राष्ट्र के अस्तित्व की कोई सार्थकता नहीं होती। यदि शरीर के सब अंग आपस में लड़ने लग जायें और एक दूसरे के सुख-दुःख में शामिल न हों, संवेदनाशून्य हो जायें, तो देहधारी को सजीव नहीं, केवल निर्जीव ही कहा जाएगा। देहधारी के सजीव होने का लक्षण यही है कि पांव में कांटा लगे तो पांव से सर्वथा भिन्न दूरस्थ अंग आंख में पीड़ा-जन्य अश्रु छलक आवें और साथ ही उस कांटे को निकालने के लिए इस शरीर रूपी राष्ट्र का दूसरा घटक—हाथ—तुरन्त आगे आकर कांटे को निकाल कर ही दम ले और शरीर को पीड़ा-मुक्त करे।

जहाँ राष्ट्र के विभिन्न घटकों का यह दायित्व है कि वे अपने अहं का एक अंश राष्ट्रीय ऐक्य के भण्डार में जमा करवा के राष्ट्र को सशक्त और समृद्ध बनावें, वहाँ राष्ट्र की केन्द्रीय शक्ति का भी यह दायित्व है कि वह किसी भी घटक को चाहे वह कितना ही दूरस्थ और कितना ही निकटस्थ क्यों न हो, उपेक्षा की दृष्टि से न देखे और सब घटकों के साथ समान बर्ताव करे। वही शरीर के अंगों वाली बात। यदि शरीर के केन्द्र में स्थित हृदय शरीर के प्रत्येक अंग में समान रूप से रक्त का प्रवाह न पहुँचाये या मुख से खाया गया अन्न पेट में पचकर रस बनने के बाद प्रत्येक अंग को पोषित न करे, तो शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता, वैसे ही राज्यों की उपेक्षा करके राष्ट्र भी सुरक्षित नहीं रह सकेगा। राज्यों को अपना अंग समझकर उनके पोषण में राष्ट्र कहीं कमी न आने दे और राज्य अपने मिथ्या अहं में पड़कर राष्ट्र की प्रभुसत्ता को चुनौती न दें, तब राज्यों में और राष्ट्र की केन्द्रीय सत्ता में सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

यहीं यह भी कह देना आवश्यक है कि राष्ट्र को राज्यों के मन में यह भावना पैदा नहीं होने देनी चाहिए कि केन्द्रीय सत्ता अधिनायकवादी बन गई है, या एक ही परिवार को सत्ता सौंपे रखने के लिए समस्त राजनीतिक चालें चली जा रही हैं। अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक राज्य को यथासम्भव उतनी स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए जो केन्द्रीय स्वतंत्रता में बाधक न बने। हरेक राज्य का केन्द्रीय सत्ता में भी कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जिन मामलों में राज्यों को स्वायत्तता दी जा सकती हो उसे देने में संकोच नहीं करना चाहिए। मुख्य बात यह है कि

राज्यों को दी गई स्वायत्तता राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के लिए चुनौती न बने, बल्कि उसकी पूरक बने। सभी राष्ट्र की एकता फलती-फूलती है। इस दृष्टि से किसी भी राज्य के साथ किया गया पक्षपात अन्य राज्यों के विद्रोह का कारण बन सकता है।

उदाहरण के लिए हम यहां काश्मीर राज्य में लागू ३७० वें अनुच्छेद का उल्लेख करना चाहेंगे। जब अन्य देशी रियासतों की तरह जम्मू काश्मीर का भी भारतीय संघ में पूर्ण विलय हुआ है और संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में इस प्रश्न पर जब भी बहस हुई है, तब-तब भारत सरकार के प्रतिनिधियों ने हमेशा पूर्ण विलय की बात को ही दुहराया है फिर ३७०वें अनुच्छेद के माध्यम से जम्मू-काश्मीर को अलग दर्जा क्यों? इसीलिए डाक्टर श्याम प्रसाद मुखर्जी ने जम्मू-काश्मीर के अलग संविधान, अलग झंडे और अलग राज्याध्यक्ष का विरोध किया था। उन्होंने सारे देश में यह नारा गुंजाया था—‘एक देश में दो विधान, एक देश में दो निशान, एक देश में दो प्रधान नहीं चलेंगे, नहीं चलेंगे।’ जब तक काश्मीर में यह स्थिति रहेगी, तब तक सिखों को अलग विधान, अलग निशान और अलग प्रधान की मांग करने से कैसे रोका जा सकता है? एकता का तकाजा है कि सब राज्यों को सभी दृष्टियों से समान अधिकार दिये जायें, किसी को कम या किसी को अधिक नहीं। पक्षपात विद्रोह को जन्म देता है और विद्रोह राष्ट्र की प्रभुसत्ता के लिए चुनौती बन जाता है। इसलिए राज्यों की स्वायत्तता के सम्बन्ध में समानता के आधार पर निर्णय किया जाना चाहिए। □

(७ जुलाई १९५४ ई०)

राष्ट्रीय एकता की बुनियादे (५)

लोकतन्त्र और नैतिकता

किसी परतन्त्र राष्ट्र के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति जितनी आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक है, उस स्वतन्त्रता को बनाये रखने की सन्नद्धता। इस स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए जितनी शासन प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनमें सबसे अधिक प्रगतिशील समझी जाने वाली और मानवीय आत्मा को सन्तुष्ट करने वाली लोकतन्त्र प्रणाली ही है। राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, सामन्ततन्त्र या ब्यूरोतन्त्र में मानवीय स्वतन्त्रता इतनी सुरक्षित कभी नहीं रह सकती जितनी लोकतन्त्र में रहती है। इसीलिए राजनीतिज्ञ लोग लोकतन्त्र को आदर्श शासन प्रणाली मानते हैं।

पर यह लोकतन्त्र कुछ जीवन मूल्यों पर आधारित है। अन्य यन्त्रों में जहाँ ऊपर से लादे गये तन्त्र के पीछे प्रजा को चलना होता है, वहाँ लोकतन्त्र में तन्त्र लोक के अधीन रहता है, राजा क अधीन नहीं। इसीलिए लोकतन्त्र में राजा को लोक द्वारा लादे गये तन्त्र के पीछे चलना होगा। राजा का महत्त्व अधिक है या प्रजा का महत्त्व अधिक है, यह विवाद चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो, पर जिस दिन से 'राजा परं देवतम्' के अनुसार राजा में देवत्व का अंश मानने से प्रजा ने इन्कार कर दिया, उसी दिन से लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त हो सका। महा-भारत में, राजा प्रजा का प्रतिनिधि है या वंशानुगत उत्तराधिकार के द्वारा प्रजा पर शासन करने के लिए दैवीय अधिकार

प्राप्त कोई विशेष विभूति है, इसका समाधान करते हुए भीष्म पितामह कहते हैं—

कालो वा कारणम् राज्ञो राजा वा काल कारणम् ।

इति ते संशयो मा भूत् राजा कालस्य कारणम् ॥

‘काल राजा का निर्माता है या राजा काल का निर्माता है इस विषय में संशय करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि राजा ही काल का निर्माता होता है।’ स्वयं महाभारत के समय राजा को दिव्य शक्तिसम्पन्न मानने या प्रजा का प्रतिनिधि मानने की विचारधारा का संघर्ष चल रहा था। महर्षि व्यास ने अपने महाकाव्य में उसी संघर्ष की कथा का चित्रण करते हुए अन्त में राजा को प्रजा का प्रतिनिधि मानने की विचारधारा का समर्थन किया है। इसलिए भीष्म पितामह के कथानुसार भले ही राजा को काल का निर्माता मान लिया जाय, पर अगर राजा प्रजा द्वारा चुनकर आता है तो जब तक वह राजसत्ता नहीं सम्भालता तब तक वह सामान्य प्रजा का अंग ही रहता है। वह प्रजा जिन जीवन-मूल्यों को स्वीकार करती है, उन्हीं के आधार पर वह सामान्य व्यक्तिजनता का प्रतिनिधि बनकर राजगद्दी सम्भालता है। जब तक वह लोक-मर्यादित जीवन मूल्यों को अपने आचरण द्वारा प्रजा में स्थापित करने का प्रयत्न करता है, तब तक प्रजा उसे अपना राजा मानती है। अगर उसका आचरण उन मर्यादाओं के विपरीत हो जाय तो वही प्रजा जिसने उसको अपने वोट से शासन करने के लिए शीर्षस्थान पर बिठाया था, अपने वोट से उसे सिंहासन से हटा भी देती है। प्रजातन्त्र की विशेषता इसी में है।

राम राज्य को आदर्श इसलिए माना जाता है कि उसमें

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम ने लोकाराधन को या प्रजारंजन को ही अपना लक्ष्य बनाया था और लोकमत का आदर करने के लिए राम ने अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का परित्याग करने में भी कभी संकोच नहीं किया था। इस लोकाराधन की मर्यादा से बंधे मर्यादापुरुषोत्तम के मुख से महर्षि वाल्मीकि के द्वारा कहलाई गई इस उक्ति से यह बात स्पष्ट होती है —

अपि वा जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥

‘भले ही मुझे अपने जीवन से वंचित होना पड़े, और हे सीते ! मुझे भले ही लक्ष्मण समेत तुम्हारा भी परित्याग करना पड़े, किन्तु देश के बुद्धिजीवियों के सामने मैंने जो लोकाराधन की प्रतिज्ञा की है उसको मैं नहीं छोड़ सकता ।’ लोकाराधन की यह प्रतिज्ञा ही लोकतन्त्र का सबसे बड़ा बल है। राजा यदि नैतिकता की मर्यादाओं का उल्लंघन करता है तो प्रजा अपनी नैतिकता के बल पर उसे ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करती है और वह न आवे, तो उसे रास्ते से हटाती है। यही नैतिकता लोकतन्त्र की जान है। यही नैतिकता प्रजा और राजा दोनों को एक सूत्र में बाँधती है। अगर यह नैतिकता न रहे तो लोकतन्त्र को समाप्त होते भी देर नहीं लगती।

लोकतन्त्र में तन्त्र क्योंकि लोक के अधीन है इसलिए सबसे बड़ा उत्तरदायित्व भी स्वयं लोक का ही है। राजा अगर काल का निर्माता बनता है तो राजसत्ता में आने के बाद, परन्तु उससे पहले तो प्रजा ही राजा का निर्माण करती है। इस नाते से लोक मुख्य है, शासन तन्त्र गौण। इसीलिए इस देश में सामाजिक सवालों को अपनी अन्तरात्मा का विषय बनाकर

जूझ पड़ने वाले समाज सुधारकों की कभी कमी नहीं रही। शासन भले ही राजा या सरकार का विषय रहा हो, पर समाज को उसके भरोसे कभी नहीं छोड़ा गया। महर्षि दयानन्द, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और महात्मा गांधी आदि ने यह कभी नहीं माना कि छूआ-छूत, सती-दाह, विधवा विवाह और जाति-प्रथा आदि विषय सरकार के ही करने के हैं। वे सामाजिक अन्धविश्वासों, दकियानूसी रुढ़ियों और समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर किये जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध मैदान में कूद पड़े। भले ही परम्परावादी समाज के कारण स्वयं इन नेताओं को मार सहनी पड़ी, तिरस्कार झेलना पड़ा, अपना बलिदान भी देना पड़ा, परन्तु धीरे-धीरे समाज का मन भी बदला और अन्ततः उनके कामों को कानूनी मान्यता भी मिली। तीसरे दशक में बाल-विवाह के विरुद्ध जो शारदा ऐक्ट बना वह और कुछ नहीं, राजनीतिक कानून के रूप में सामाजिक चेतना की स्वीकृति मात्र था। लेकिन सबसे बड़ा काम यह हुआ कि इन प्रक्रिया ने ऐसे नये नेता पैदा कर दिये जो भीड़ के पीछे चलने वाले नहीं थे, बल्कि व्यक्ति की चेतना में परिवर्तन लाकर भीड़ को अपने पीछे चलाने वाले थे। गांधी युग के नेताओं के पास सिवाय नैतिकता के और कौन सा बल था !

हमने अपनी राष्ट्रीय एकता के लिए जिस लोकतन्त्र को स्वीकार किया है, वह प्रणाली कितनी ही अच्छी क्यों न हो, परन्तु नैतिकता के अभाव में उसमें घुन लगता जा रहा है। लोकतन्त्र में हिंसा को स्थान नहीं है। परन्तु जब चारों तरफ उसको शान्त न कर पा रही हो, तब क्या यह माना जाय कि

लोकतन्त्र में संनिहित नैतिकता भी उसका निवारण करने में असमर्थ है ? यह मानना एक तरह से अपनी पराजय स्वीकार करना है । नहीं तो क्या कारण है कि असम के दंगे, पंजाब का आतंकवाद, गुजरात का जातीय-संघर्ष, महाराष्ट्र में 'आमची मुम्बई' और आन्ध्र में तेलगुदेशम जैसे आन्दोलन सिर उठाते हैं और इस देश के विशाल जनमत की नैतिकता सोयी पड़ी रहती है ? भ्रष्टाचार, मंहगाई आदि के विरुद्ध आक्रोश तो चारों ओर है पर उनका मुकाबला करने के लिए गाँधी, विनोबा या जय-प्रकाश जैसा नैतिक बल कहीं दिखाई नहीं देता । जिन बातों को हम गलत समझते हैं, उनको दूर करने लिए अगर जनता स्वयं अपने नैतिक बल का प्रदर्शन नहीं करेगी, तो राष्ट्र ताना-शाही की ओर बढ़ेगा ही । राष्ट्र की एकता के लिए अहर्निश चिन्ता करने वालों को राष्ट्र की विघटनकारी शक्तियों के विरुद्ध अपने उसी नैतिक बल का परिचय देना होगा ताकि प्राणों की बाजी लगाकर भी लोकतन्त्रीय जीवनमूल्यों की रक्षा हो सके । राष्ट्रीय एकता लोकतन्त्र का सबसे बड़ा जीवनमूल्य है । □

[१४ जुलाई, १९८५ ई०]

राष्ट्रीय एकता की बुनियादें (६)

युवावर्ग और आर्य वीर दल

पिछले दिनों दिल्ली में या दिल्ली के बाहर, दूरस्थ प्रदेशों में भी, जब-जब जाने का अवसर मिला तब-तब एक बात देखकर हैरानी हुए बिना नहीं रही। जिन उत्सवों में पहले कभी हजारों की भीड़ हुआ करती थी उनमें अब उपस्थिति अंगुलियों पर गिनी जा सकती थी। यह बात देखकर मन को चोट लगती थी। परन्तु इससे भी बढ़कर जिस बात को देखकर हैरानी हुई वह यह थी कि किसी भी समाज के वार्षिकोत्सव में आर्यवीर दल के स्वयंसेवक कहीं दिखाई नहीं दिए। पहले चाहे कितने ही बड़े जलसे और समारोह क्यों न हों, उन सबकी व्यवस्था पुलिस नहीं, आर्य वीर दल के स्वयंसेवक किया करते थे। अब स्थिति यह है कि मंच पर बैठे हुए प्रतिष्ठित व्यक्तियों को स्वयंसेवक नहीं, होटलों के बैरे या दिहाड़ी पर रखे हुए अन्य लोग पानी पिलाने आते हैं। पण्डाल और शामियाने में तो पहले भी मजदूरों और ठेकेदारों से ही काम लिया जाता था, परन्तु वार्षिकोत्सव में आम जनता को ढंग से बिठाने, नियंत्रित रखने तथा विद्वानों और अभ्यागतों की सेवा में सदा आर्य वीर दल के स्वयंसेवक ही तैनात हुआ करते थे। अब तो कई जगह विद्वानों को ठहराने के लिए भी होटलों में व्यवस्था करने का रिवाज चल पड़ा है। आर्य समाज के समारोहों में श्रोता के रूप में अधिकतर प्रौढ़ या वृद्धजन ही आते हैं। व्यवस्था में युवकों का यह अभाव खटकता है।

जो शिकायत हमने की है वही शिकायत आम आर्य जनों की जवान पर भी है। जिस तरह पहले कभी युवा वर्ग आर्य समाज के कार्यक्रमों में भारी संख्या में टूट पड़ता था, अब उससे सर्वथा विपरीत स्थिति है। बुजुर्ग लोग कह सकते हैं कि आज-कल का युवा वर्ग धर्म-कर्म की बात सुनना नहीं चाहता। उसको तो रोजी-रोटी की चिन्ता से ही फुरसत नहीं है। अनुशासन-हीनता उसके जीवन का अंग बन चुकी है। शिक्षितों की बेरोजगारी ने अच्छे पढ़े-लिखे युवकों को भी अपराधकर्मों बना दिया है। युवकों को इस प्रकार पथ-भ्रष्ट करने में सिनेमा, वीडियो, दूरदर्शन और आकाशवाणी का भी कम हाथ नहीं है। कम से कम परिश्रम से अधिक से अधिक धन कमाने की और विलासिता की वस्तुएँ इकट्ठी करने की जो दौड़ उपभोक्ता संस्कृति ने पैदा की है उससे आज के युवकों में समाज और राष्ट्र के प्रति कर्तव्यबोध समाप्त हो गया है। ऐसे वातावरण में, संयम-सदाचार और त्याग तपस्या का और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को समझने का उपदेश देने वाले आर्यसमाज में युवकों का अभाव हो जाय तो बुजुर्गों की शिकायत गलत नहीं है। इसीलिए बुजुर्ग लोग आजकल के वातावरण से और आधुनिक युवा वर्ग से निराश हैं।

ऐस बुजुर्गों की भी कमी नहीं है, जो दिन-रात अपनी जवानी के दिनों की याद करते हुए उन दिनों के आर्य समाज के गौरव के गीत गाते हैं और हमेशा वर्तमान की तुलना में अतीत की प्रशंसा करते रहते हैं। भारतीय प्राचीन गौरव की दिन-रात स्तुति करने वाले और वर्तमान युग को भ्रष्टाचार-युग की संज्ञा देने वाले भी इसी कोटि में आते हैं। वर्तमान से असंतोष तो

यौवन का गुण है, परन्तु वर्तमान से निराशा केवल बुढ़ापे की निशानी है, जो लोग हमेशा अतीत के गीत गाते रहते हैं, और वर्तमान की आलोचना करते हुए अपने माथे पर हाथ मारते रहते हैं, वे लोग बुढ़ा गये हैं। बच्चों के सामने केवल भविष्य होता है। युवकों के सामने केवल वर्तमान होता है और बुढ़ापे के सामने केवल अतीत होता है।

फिर जिस युवा वर्ग को हम दोष देते हैं उसकी जिम्मेवारी किस पर है? असल में हम अपनी जिम्मेवारी से बचने के लिए ही पर दोष-दर्शन की भावना से केवल युवकों को ही लांछित करते हैं। यह नहीं सोचते कि आज की युवा पीढ़ी जो भी कुछ है वह हमारी अपनी पुरानी पीढ़ी की ही देन है। हमने जैसा उनको बनाया है, वैसे वे बने हैं। आर्यसमाज में भी सारी अच्छाई का श्रेय तो बूढ़े लोग अपने ऊपर ले लेते हैं और बुराइयों का सारा दोष युवकों पर डाल देते हैं।

बुजुर्ग पीढ़ी को युवा पीढ़ी से यह भी शिकायत है कि आजकल के युवा लोग अगर आगे बढ़ने का अवसर पा जायेंगे तो हमारे सिंहासनों को छीन लेंगे। यह बात तो एक दिन होनी ही है। आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों। परन्तु जिस तरह कोई राजनीतिक नेता अपनी कुर्सी छोड़ना नहीं चाहता, उसी तरह आर्यसमाज की बुजुर्ग पीढ़ी भी युवकों के अधिक आगे आने से चलायमान होती है।

कुछ युवक भी ऐसे हैं कि आर्य समाज के कामों में थोड़ा बहुत हिस्सा लिया और मंच पर कुछ सफलता मिलने लगी तो वे भी तुरन्त सोचते हैं कि इन बुजुर्गों को हटा कर हम ही कुर्सियों पर क्यों न बैठें। यह ठीक वैसी ही बात है जैसे कि दमड़ी दान

में देकर कोई बुढ़िया आसमान की ओर टकटकी लगाकर देखने लग जाय कि मुझे स्वर्ग से लेने के लिए कोई विमान आया है या नहीं। ये दोनों ही बातें चलने वाली हैं।

समस्या का विश्लेषण करने पर हमें लगता है कि स्वराज्य प्राप्ति से पहले देश के युवकों में राष्ट्र के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने की जो तड़प थी, वह तड़प अब समाप्त हो चुकी है। वह अब लौटने वाली भी नहीं है। आजकल की युवा पीढ़ी स्वाधीनता-संघर्ष के उन दिनों की परिस्थितियों से और वातावरण से सर्वथा अनभिज्ञ है। जीवन-बलिदानियों की घटनाएँ आजकल की युवा पीढ़ी को कहानियाँ लगती हैं। आजकल की युवा पीढ़ी ने तथाकथित बड़े-बड़े विश्वामित्रों का तप-भंग होते देखा है और सौ यज्ञ पूरे करके इन्द्रासन प्राप्त करने के इच्छुक ऋषियों की आपसी कूटनीति भी देखी है। इसलिए उन आदर्शों के नाम पर आज युवा पीढ़ी में नयी चेतना का संचार नहीं किया जा सकता। आजादी से पहले देश के लिए मरने की जितनी आवश्यकता थी, आजादी के बाद देश के लिए जीने की उससे कहीं अधिक आवश्यकता है। यह जीना सामान्य जीना नहीं है। चारों तरफ अनुशासन-हीनता, बेईमानी, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और चापलूसी के वातावरण में ईमानदार और सदाचारी बन कर रहना और किसी भी भय अथवा प्रलोभन पर न बिकने का अत्मबल लेकर जीना आसान नहीं है। सही बात यह है कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए जो तड़प थी अब सुराज्य प्राप्ति के लिए उसी तड़प की आवश्यकता है और वही तड़प युवकों में पैदा करनी है।

स्कूल-कालेजों के ग्रीष्मावकाश के दिनों में स्थान-स्थान पर आर्यवीर दल के शिविर लगे हैं। इन सब शिविरों में कुल मिलाकर शायद हजार-दो हजार नवयुवक एकत्रित हुए होंगे। क्या ७२ करोड़ की आबादी वाले, बड़े बूढ़ों को निराशाओं से घिरे, इस देश में ये कुल हजार-दो हजार आर्य युवक कुछ परिवर्तन ला सकेंगे? बुजुर्ग आर्य नेता मंचों पर खड़े होकर और ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा तो करते हैं कि प्रत्येक नगर में और प्रत्येक गाँव में आर्यवीर दल की शाखा होनी चाहिए, और उसके लिए किसी कार से धन कमी नहीं होने दी जायेगी। परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि युवा वर्ग को सिवाय उपेक्षा के और कुछ नहीं मिलता। जो थोड़े बहुत आर्यवीर हैं भी, वे भी यह समझते हैं कि हम तो सैनिक हैं। इसलिए गणवेश पहन कर समापन समारोह में लाठी तलवार आदि चलाने के प्रदर्शन से ही हमारे कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है, समाज-सेवा से हमें कुछ लेना-देना नहीं। आर्यवीरों को अपने मन से यह आडम्बर-प्रियता और मिथ्या अहं निकालना होगा और आर्य नेताओं को भी युवकों को झांसा देने के बजाय उनको आगे बढ़ने का पूरा अवसर देना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष की सर्जकता इसी बात में है कि अब हम पूरे मनोयोग से आर्यवीरों को, आर्य वीर दल को, युवाशक्ति को आर्यसमाज में लाएँ तभी आर्य समाज का भविष्य सुरक्षित रहेगा। □

[२१ जुलाई १९८५ ई०]

उच्चतम न्यायालय को बधाई

देश की प्रगति के लिए जिस प्रकार के सामाजिक सुधारों की आवश्यकता है, उन्हें चरितार्थ करना आसान काम नहीं है। सदियों पुराने, अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों में फँसे और इतिहास के विभिन्न कालों में प्रविष्ट नई नई सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त समाज जब अपने ही आन्तरिक बोझ से टूट जाता है, तभी उस पर गैर लोग हावी होते हैं और देश पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ा जाता है। किसी भी देश की आजादी केवल राजनैतिक आजादी नहीं होती, बल्कि उसके पीछे सामाजिक क्रान्ति का भी लम्बा इतिहास होता है। समय-समय पर समाज-सुधारक पैदा होते रहते हैं और वे जिन रूढ़ियों को तोड़कर समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं, उन्हीं का अन्तिम परिणाम स्वतन्त्रता के रूप में प्रतिकलित होता है।

परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी यह समझना भूल होगी कि समाज अपनी अन्ध रूढ़ियों से मुक्त हो चुका है। राजनैतिक उत्थान और सामाजिक उत्थान दोनों साथ साथ चल भी सकते हैं और नहीं भी चल सकते हैं। कई देशों को हम देखते हैं कि वे राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने पर भी पुनः मध्य-कालीन रूढ़ियों में ग्रस्त हो गये। भारत के चारों ओर के देश धर्म के नाम पर जिस नये 'फण्डामेंटलिज्म' के शिकार हो गये हैं वह उनकी प्रगति की नहीं, परागति की ही निशानी है। भारत में भी कभी-कभी उस प्रकार की दकियानूसी प्रवृत्तियाँ

अपना सिर उठाती हैं पर यहाँ के विचारशील लोगों के द्वारा अभी तक उन प्रवृत्तियों के समर्थन का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता । यह एक शुभ शकुन है ।

सामाजिक परिवर्तन में न्यायपालिका और कार्यपालिका दोनों का ही महत्त्व है । परन्तु यदि कहीं उन दोनों में ही टकराव हो जाय तो वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक हो सकता है । न्यायपालिका और कार्यपालिका के अलावा एक तीसरा वर्ग समाज-सुधारकों का है जो इन दोनों की बिना परवाह किये जिन सुधारों को वह समाज के लिए हितकारी समझता है, उनके लिए निरन्तर आन्दोलन करता रहता है । इस प्रयत्न में समाज-सुधारकों को तत्कालीन समाज का विरोध भी कम सहन नहीं करना पड़ता । परन्तु एक समय ऐसा आता है जब धीरे-धीरे जनमत उनकी निष्ठा और नैतिक बल के आगे नतमस्तक होता है और अन्ततः उस सुधार के सम्बन्ध में न्यायपालिका और कार्यपालिका भी सहमत होने को विवश हो जाते हैं । उदाहरण के लिए सती प्रथा, विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा को लिया जा सकता है । परम्परावादी लोग कभी धर्म के नाम पर सती प्रथा का समर्थन करते थे, विधवा विवाह को अनुचित मानते थे, और स्त्री शिक्षा को अनर्थकारी समझते थे । परन्तु समाज सुधारकों के प्रयत्न से धीरे-धीरे समाज ने उन प्रथाओं को छोड़ना स्वीकार किया और इसके लिए कानून भी बने ।

परन्तु अब भी अनेक क्षेत्र ऐसे हैं, जिनमें कार्यपालिका और न्यायपालिका अपनी ओर से दखल देना नहीं चाहतीं । आजादी के पश्चात् समाजसुधारकों का भी उत्साह ठण्डा पड़ गया । लोकतन्त्र को जिस नैतिक बल की आवश्यकता है वह नैतिक

बल जन-जागरण से जितना प्राप्त होता है, न्यायपालिका या कार्यपालिका से उतना नहीं। क्योंकि लोकतन्त्र में लोक का महत्व ही सबसे अधिक है, इसलिए यदि स्वयं लोक ही कुपथ-गामी होना चाहे तो उसको न्यायपालिका या कार्यपालिका भी नहीं रोक सकती। इसलिए लोकतन्त्र में लोकशक्ति का सबसे अधिक महत्व है। यह लोकशक्ति न्यायपालिका और कार्यपालिका से बड़ी है।

अब से लगभग ८ साल पहले सामाजिक परिवर्तन की दिशा में नया मोड़ तब आया जब स्वयं उच्चतम न्यायालय ने लोकहित की दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन लाने को अपना उद्देश्य समझना शुरू किया और सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीशों ने लोकहित के मुकदमों की सुनवाई शुरू की। उन्होंने यह भी घोषणा की कि लोकहित सम्बन्धी सार्वजनिक महत्व का मामला कोई भी नागरिक उठा सकता है भले ही वह नागरिक स्वयं उसका भुक्तभोगी न हो। न्यायमूर्ति श्री प्रफुल्ल चन्द्र नटवर लाल भगवती ने तो यहाँ तक भी कह दिया कि लोकहित के किसी मामले में यदि कोई सामान्य नागरिक भी कोर्ट फीस बिना जमा किये केवल मामूली चिट्ठी भी सुप्रीमकोर्ट को लिख दे, तो देश का उच्चतम न्यायालय उसकी सुनवाई करेगा। श्री न्यायमूर्ति भगवती अब देश के नये न्यायाधीश बने हैं तो उनसे सामाजिक परिवर्तन की दिशा में बड़ी आशाएँ भी बँधी हैं।

भागलपुर के आँखफोड़ काण्ड में, बंधुआ मुक्ति मोर्चे के सिलसिले में और खेसारी दाल के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने जो निर्णय दिये हैं, वे एक दृष्टि से क्रान्तिकारी हैं और उनकी खूब चर्चा भी हुई है। हाल ही में आरक्षण से सम्बन्ध में और

मुस्लिम महिला शाहबानो के केस में सुप्रीमकोर्ट ने जो फैसले दिये उनके लिए समस्त देशवासियों को उच्चतम न्यायालय को बधाई देनी चाहिए। शाहबानो के केस में तो सुप्रीमकोर्ट ने स्वयं ही समस्त देश में समान आचार संहिता लागू करने पर बल तो दिया ही, साथ ही सरकार को भी इस दिशा में सक्रिय होने के लिए प्रेरित किया और मुस्लिम पर्सनल ला की बात को स्वीकार नहीं किया। हालांकि साम्प्रदायिकता से ग्रस्त मुस्लिम नेता इस फैसले के कारण उच्चतम न्यायालय के विरुद्ध खड़गहस्त होकर जिहाद पर आमादा हो गये परन्तु न्यायालय का निर्णय अपने स्थान पर विद्यमान है और देश की समस्त राष्ट्रवादी जनता इस निर्णय के लिए उच्चतम न्यायालय की प्रशंसा करती है।

उच्चतम न्यायालय का यह रोल स्वागत योग्य है। पर यह देखकर दुःख होता है कि इन निर्णयों को सरकार एक तरह से अपने विरुद्ध निर्णय मानती है और उनको लागू करने का ईमानदारी से कोई प्रयत्न नहीं करती। सरकारी तन्त्र के जितने साधन हैं वे सब साधन उच्चतम न्यायालय के उन निर्णयों को, जिन्हें क्रान्तिकारी निर्णय कहा जा सकता है, अपनी ओर से विफल करने में कोई कसर नहीं छोड़ते। इसलिए वे निर्णय अभिनन्दन के योग्य होते हुए भी अमल में नहीं आ पाते। यह एक विडम्बना है। सरकार ने अपनी ओर से गरीबों को न्याय देने के लिए एक अलग कानूनी सहायता सेल भी बनाया है परन्तु वह भी दिखावटी अधिक है। परामर्श देने के नाम पर जो वकील वहाँ बैठे होते हैं वे गरीब लोगों को पहले तो सुलभ ही नहीं होते, और सुलभ हो भी जायें तो केवल यह सलाह देकर अपने कर्तव्य की समाप्ति समझ लेते हैं कि इस विषय के मामले निपटाने में

अनुक वकील माहिर है, आप जाकर उसकी सेवा लीजिए। यह गरीब की सहायता नहीं, बल्कि कांटा डालकर मछली फँसाने जैसा काम है।

न्यायमूर्ति श्री कृष्ण अय्यर ने सन् १९७५ में एक फैसले में लिखा था—“जीवन किसी भी संविधान और कानून से बड़ा है।” और न्यायमूर्ति श्री भगवती ने सन् १९७८ में दिल्ली के वकीलों के बीच कहा था—“हम सौ न्यायों को सामने रखकर भी एक अन्याय का मूल्य नहीं चुका सकते। न्याय की उपलब्धि यही होनी चाहिए कि जिसे भी उसकी जरूरत हो उसे भी उसकी जरूरत हो उसे वह उपलब्ध रहे। इसके बगैर आपके काले चोगों और न्यायाधीशों के ऊँचे सिंहासनों का कोई अर्थ नहीं है।” अब स्वयं उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश बन जाने के पश्चात् न्यायमूर्ति श्री पी० एन० भगवती अपनी प्रयोगशील दूर-दृष्टि का उपयोग करेंगे, यह तो हमें विश्वास है, परन्तु जहाँ तक कार्यपालिका का सम्बन्ध है वे उसको अपने निर्णय मनवाने के लिए किस प्रकार बाधित कर सकेंगे, यह समझ में नहीं आता। प्रशासनिक कानून बन जाने से या न्यायालय के निर्णय से सामाजिक परिवर्तन में सहायता तो मिल सकती है, पर उससे सामाजिक परिवर्तन की गारण्टी नहीं मिल सकती, क्योंकि निहित स्वार्थों के लोग उन निर्णयों को कभी अमली जामा नहीं पहनने देंगे। इसलिए समाज सुधारकों का यह कर्तव्य है कि वे न्यायपालिका या कार्यपालिका की चिन्ता किये बिना अपने मिशन में निरन्तर लगे रहें तभी सामाजिक क्रान्ति होगी, अन्यथा नहीं। समाज का असली नेतृत्व समाज सुधारकों को ही करना होगा। □

[२८ जुलाई १९८५ ई०]

बोलबाला, मगर किसका ?

२४ जुलाई का दिन भारत के इतिहास में विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा क्योंकि उस दिन एक ऐसी त्रासदी (कॉमेडी) में बदल गई जिस त्रासदी (ट्रजेडी) ने पिछले ४ साल से केवल पंजाब को ही नहीं, बल्कि सारे देश को उद्वेलित कर रखा था। अकालियों के साथ प्रधानमन्त्री ने जो समझौता किया उसका देश के अधिकांश क्षेत्रों में स्वागत ही हुआ है। हरियाणा और राजस्थान में विसंवादी स्वर भी काफी उग्र रूप में सुनाई दिये, परन्तु आशा करनी चाहिए कि धीरे-धीरे वह पंचम स्वर भी मल्हार में परिणत भले ही न हो, परन्तु उसमें से कर्ण-कटुता का अंश समाप्त हो जायेगा। यह दुराशा भी हो सकती है। परन्तु जन-साधारण की समझदारी पर हमें कभी शंका नहीं रही। इसलिए विश्वास है कि प्रधानमन्त्री ने हरियाणा और राजस्थान के मुख्यमन्त्रियों को जो आश्वासन दिया है कि इन दोनों राज्यों के हितों की अवहेलना नहीं की जायेगी, वह आश्वासन पूरा होगा और इन दोनों राज्यों के विरोधी दल देश के व्यापक हित में इतनी मुश्किल से सामने आई समझदारी को अपने दलीय हितों की वेदी पर बलि नहीं चढ़ायेंगे।

यह आरोप सही है कि जिस प्रकार का समझौता हुआ है वह अब से तीन साल पहले भी हो सकता था। पर जो काम तीन साल में नहीं हुआ वह अब दो दिनों में हो गया, यह क्या अपने-आप में कोई कम चमत्कार की बात है ? असल में पिछले सालों

की घटनाओं ने सरकार को और अकालियों की दोनों को आत्म-विश्लेषण के लिए मजबूर किया। घटनाओं की गर्मी ने दोनों तरफ का लोहा पिघलाया और यह पिघला हुआ गर्म लोहा एक-जुट हो गया। इससे उन लोगों को भले ही निराशा हुई हो जो यह माने बैठे थे कि अकालियों और सरकार में कभी समझौता नहीं होगा क्योंकि अकाली कभी ब्लू स्टार आपरेशन को माफ नहीं करेंगे और सरकार कभी इन्दिरा गांधी की हत्या को माफ नहीं करेगी। परन्तु संसार में अनहोनी घटनाएँ भी होती ही हैं और उनका होना देश और समाज-हित के लिए आवश्यक भी होता है। सबसे भारी निराशा आतंकवादियों को, भिडरवाँले के बाप बाबा जोगिन्दर सिंह को और बादल और तोहड़ा को हुई जो यह समझते थे कि हमारी इच्छा के बिना अकाली दल का पत्ता भी नहीं हिल सकता।

सच बात तो यह है कि पंजाब की इस भयंकर त्रासदी में मूल कारण अकाली नेताओं की आपसी होड़, व्यक्तिगत नेतागिरी की हविश और एक दूसरे को नीचा दिखाने की जोड़-तोड़ की नीति ही है। राग और द्वेष से अभिभूत इन संकीर्ण-हृदय अकाली नेताओं ने अपने निकृष्ट व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए सारे पंजाब को आग की भट्ठी में झोंक दिया। ये नेता लोग आपसी प्रति-द्वंद्विता की खातिर कितने निचले स्तर तक उतर सकते हैं। उसका प्रमाण सात वरिष्ठ अकाली नेताओं द्वारा दिया गया वह वक्तव्य है जिससे उनकी पूरी कलाई खुल जाती है। ये सात वरिष्ठ नेता हैं—सर्व श्री आत्मासिंह, उजागरसिंह सेखवाँ, प्रकाशसिंह मजीठा, मोहिन्द्र सिंह साहियावाला, रणजीत सिंह ब्रह्मपुरा, इकबालसिंह ढिल्लों और गुरुदेव सिंह शान्त। इन नेताओं ने अपने बयान में

कहा है कि लोंगोवाल और तोहड़ा ने प्रकाशसिंह बादल को, जो उस समय पंजाब के मुख्यमन्त्री थे, राजनीतिक दृष्टि से नीचा दिखाने के लिए अकाली विधायकों को त्याग-पत्र देने के लिए प्रेरित किया और इन नेताओं ने ही बादल के जनाधार को समाप्त करने के लिए और उन्हें हिन्दुओं से दूर करने के लिए संविधान के ५वें अनुच्छेद के विरुद्ध चलाये गये आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए विवश किया। यह एक अत्यन्त गम्भीर आरोप है। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि हिन्दू और सिखों के बीच जो खाई पैदा हुई वह इन अकाली नेताओं के आपसी कलह की उपज है? आज तक अकाली नेता हमेशा यह कहते रहे कि कांग्रेस ही हिन्दू और सिखों के बीच दरार पैदा करती रही है। परन्तु इस बयान से स्पष्ट हो जाता है कि दरार की जड़ कहाँ है। निशाना था प्रकाशसिंह बादल बेड़ा गर्क हुआ पंजाब का और हिन्दू और सिखों के बीच में खाई को और चौड़ा करने के लिए आतंकवाद का दुधारा चला।

इस काण्ड का एक दुःखद पहलू यह भी है कि बादल जैसा हिन्दू सिख सौहार्द का प्रतीक, राष्ट्रीय अखंडता का उपासक और सब अकाली नेताओं से अधिक असाम्प्रदायिक समझा जाने वाला सुशिक्षित व्यक्ति भी आत्मिक बल की दृष्टि से इतना कमजोर निकला कि सब कुछ समझते हुए भी अपने विरुद्ध दुरभिसंधि करने वालों के सामने कभी डटकर खड़ा होने की हिम्मत नहीं कर सका। यही मानसिक कमजोरी अकाली नेताओं की सबसे बड़ी कमी रही। लोंगोवाल और तोहड़ा भी इसी आत्मबल की कमी के कारण भिड़रावाले का खुलकर विरोध नहीं कर सके। बादल और तोहड़ा अब भी दुविधा में हैं और सम-

झौते का स्वागत करने को तैयार नहीं हैं क्योंकि उनको अपने ऊपर विश्वास नहीं है। लोंगोवाल की विशेषता यही है कि अब तक भले ही वे भी अपनी आत्मिक बल की हीनता का परिचय देते रहे हों, पर जब पहली बार उन्होंने अपने मन की दुविधा को परे फेंक कर आत्म-बल का परिचय दिया तो समझौता होते देर नहीं लगी। आखिर अकालियों में भी तर्कसंगत बात समझने और कहने वाले लोगों की कमी नहीं है। पर वे स्वयं मृत्यु के डर से आतंकवादियों के समक्ष हमेशा साष्टांग दण्डवत् की मुद्रा में खड़े होते रहे या मौन साधे रहे। उधर आतंकवाद का भस्मा-सुर बढ़ता गया। लोंगोवाल ने पहली बार तोहड़ा के विरोध में वक्तव्य दिया। तोहड़ा कहते रह गये कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत और आनन्दपुर साहब प्रस्ताव को माने बिना कोई बात नहीं हो सकती। परन्तु लोंगोवाल ने खुलकर भारतीय संविधान के अन्तर्गत समस्या का समाधान तलाश करने की बात पर जोर दिया। लोंगोवाल के इसी आत्म बल ने यह समझौता करने में सहायक भूमिका अदा की।

अकाली नेताओं की यह संकीर्णता अभी समाप्त नहीं हुई है। बाबा जोगिंदरसिंह ने और सिख छात्र संघ ने जिस तरह समझौते का विरोध किया है उससे यह भी स्पष्ट है कि आतंक-वाद का विषधर चाहे जब फिर फण फैला सकता है। सरकार तो अपनी ओर से सेना और पुलिस के बल द्वारा पहले भी उस विषधर के फण को कुचलने में तत्पर थी। पर अकाली नेताओं की कमजोरी के कारण धर्म, राजनीति और समाज में आतंक-वादियों के प्रति जो सहानुभूति का वातावरण पैदा हो गया, उसी ने देश को त्रासदी में झोंका। अब भी आतंकवादियों से

निपटने में लोंगोवाल की दृढ़ता ही काम आयेगी। अगर उन्होंने कहीं कमजोरी दिखाई तो अकाली नेताओं की यह आपसी होड़ उनको निगल जायेगी और अगर वे दृढ़ संकल्प के साथ डटे रहे तो सारे देश का अपूर्व विश्वास प्राप्त करेंगे। इसलिए सबसे कड़ी परीक्षा अब श्री लोंगोवाल की ही है।

पंजाब में चुनाव होंगे, इसकी पूरी संभावना है। चुनावों में जहाँ राजनीतिक दल एक-दूसरे पर कीचड़ उछालेंगे, वहाँ अकाली नेता भी अपनी आपसी प्रतिद्वंद्विता की होड़ में न जाने किस स्तर तक उतर आवें। श्री बादल दो बार मुख्यमंत्री रह चुके हैं और पंजाब के बड़े जाट किसानों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रशासन व नौकरशाही पर भी उनका काफी असर है। दूसरी तरफ पार्टी के संगठन पर तोहड़ा की पकड़ सबसे अधिक है। तभी तो वे जेल में रहते हुए भी शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष चुन लिये गये। चुनाव शुरू होने पर हो सकता है लोंगोवाल बरनाला को आगे बढ़ायें और बादल और तोहड़ा अपने आपको या अपने प्रतिनिधियों को घोड़ों पर बिठायें। अकालियों की यह भी विशेषता रही है कि जब सरकार के विरोध में लड़ते हैं तब उनमें एकता हो जाती है और जब सत्ता का प्रश्न आता है तो उसके बँटवारे पर उनमें लड़ाई-झगड़ा होता है। अपनी इस फितरत पर अकाली नेता कब विजय प्राप्त कर सकेंगे, यह कहा नहीं जा सकता।

अनेक लोग पूछते हैं कि यह समझौता कब तक चलेगा? जो अकालियों के पुराने इतिहास को जानते हैं, उनके लिए यह प्रश्न स्वाभाविक है क्योंकि किसी भी समझौते से मुकर जाना और कोई भी नया मुद्दा निकालकर उस पर धर्मयुद्ध के नाम

से आन्दोलन शुरू कर देना उनका इतिहास रहा है। लोगों को अब भी शंका है कि उनकी मानसिकता में कोई परिवर्तन आया है। लोंगोवाल का नरम दल और बाबा जोगिन्दर सिंह का गरम दल ये दोनों एक ही लक्ष्य से प्रेरित हैं। समझौते से जो मिल रहा है, उसे ले लो और उसके बाद नरम और गरम दोनों तरीकों से खालिस्तान की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ो। यही उनकी रणनीति है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार का अविश्वास अकालियों के इतिहास की विरासत है। इसलिए हो सकता है कि इस समय जो खुशगवार सुखद वातावरण बना है और पंजाब में शान्ति और अमनचैन की जो आशा बँधी है, यह किसी दिन व्यर्थ ही हो जाय। परन्तु हम फिर जनता की समझदारी में विश्वास की बात दुहराते हैं। स्वयं लोंगोवाल भी राजशक्ति के बजाय लोकशक्ति में आस्था प्रकट कर चुके हैं। अब उस लोकशक्ति को ही जगाने का काम लोंगोवाल को करना है। अगर लोंगोवाल उसमें सफल हो गये, तो पंजाब में अन्धकार को चीरकर प्रकाश की जो नई किरण दिखाई पड़ी है, उसका सबसे बड़ा सेहरा उन्हीं के सिर बँधेगा। हम आशा करते हैं कि अब सिखों के बोलबाले के बजाय आपसी सद्भाव और देश की एकता और अखण्डता का बोलबाला शुरू होगा। पिछले ४ साल से पंजाब इसी बोलबाले की आँखें बिछाये प्रतीक्षा कर रहा है। □

(४ अगस्त १९८५ ई०)

ये हत्यारे हैं, केवल हत्यारे !

पिछले दो दशकों में आतंकवाद ने जिस तरह अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण किया है, उसने संसार को चौंका दिया है। सभी देशों के आतंकवादियों की कार्य-प्रणाली प्रायः एक जैसी होती है—जैसे विशिष्ट लोगों की हत्या, विमानों का अपहरण, बैंकों को लूटना, बमों का विस्फोट और अन्य विध्वंसात्मक कार्यवाही करना। आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक के विकास के साथ आतंकवादियों ने भी अपनी गति में नई तेजी, नये हथियार और नये संचार साधन प्राप्त कर लिए हैं। वे दुनिया भर में सर्वोत्तम शस्त्रास्त्र खरीदते हैं। उनके पास दूर से संचालित होने वाले बम और प्रक्षेपास्त्र तक होते हैं। समस्या की विकटता इस बात में है कि कई शत्रु देश इन आतंकवादियों को न केवल शरण और प्रशिक्षण देते हैं, बल्कि धन भी प्रचुर मात्रा में देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के बढ़ने का कारण यह भी है कि पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस और स्पेन के आतंकवादी गुटों ने सम्मिलित रूप से यह घोषणा की है कि वे आतंकवाद के प्रसार में एक-दूसरे की पूरी सहायता करेंगे। इस आतंकवाद का किस तरह विस्तार हुआ है यह इससे पता लगता है कि संसार के पांच महाद्वीपों में आतंकवादियों के अलग-अलग संगठन सक्रिय हैं। इनमें सबसे अधिक संगठनों की संख्या पश्चिमी एशिया में है। पश्चिमी एशिया के इन आतंकवादियों की एक विशेषता

यह भी है कि वे प्रायः एक दूसरे के भी विरोधी हैं। पश्चिमी एशिया इन आतंकवादी संगठनों में कुछ चरम वामपंथी हैं, कुछ धर्मोन्मादी हैं और कुछ जातीय पृथक्तावादी हैं।

इन आतंकवादियों के पास धन कहाँ से आता है, यह भी बड़ा पेचीदा सवाल है। खोज करने पर पता लगा है कि इन आतंकवादियों को जहाँ कुछ निहित स्वार्थी वाले संगठन, सम्पन्न व्यक्ति और सरकारें धन देती हैं, वहाँ इन आतंकवादियों के पास नशीली दवाइयों की तस्करी से धन सबसे अधिक आता है। संसार के तथाकथित विकसित देशों में इन नशीली दवाओं के व्यापारियों के शक्तिशाली सिंडिकेट बने हुए हैं और उनका वार्षिक व्यापार अरबों डालरों में होता है। इन तस्करी का जाल सारे संसार में बिछा हुआ है और इनके सम्पर्क सूत्र कभी-कभी काफी उच्च पदस्थ क्षेत्रों तक भी जुड़ते हुए पाये जाते हैं।

इसी आतंकवाद ने एक नई जमात पैदा कर दी है जो बाकायदा हत्यारों की जमात है। ये हत्या का व्यवसाय करते हैं। हत्या का प्रशिक्षण लेकर चाहे जिसकी हत्या करने को तैयार हो जाते हैं और मुंहमाँगा धन पाते हैं। पिछले दिनों अखबारों में यह खबर भी छपी थी कि कुछ उग्रवादी सिखों ने जेकॉल के नाम से विख्यात कारलोस को, जो संसारप्रसिद्ध हत्यारा है, अनेक प्रमुख भारतीय नेताओं की हत्या करने के लिए भाड़े पर तैनात किया था। यह भी कहा जाता है कि उसी कारलोस ने कुछ असें पहले नेपाल और उसके सीमावर्ती इलाकों में कुछ प्रशिक्षण शिविर लगाये थे जिनमें युवकों को हत्या करने की ट्रेनिंग दी गई थी। उसी के बाद गत मई मास में उत्तर

भारत के अधिकांश स्थानों पर ट्रांजिस्टर बम काण्ड हुए जिसमें ८० व्यक्ति मारे गये। भारत के बाद इन बम विस्फोटों का सिलसिला नेपाल में शुरू हो गया। कहा जाता है कि भारत में हो रही व्यापक धर-पकड़ से बचने के लिए बहुत से सिख नेपाल पहुँच गये और वहाँ बम विस्फोट करके उन्होंने अपनी उपस्थिति का सबूत दिया। भारत से भाग कर नेपाल पहुँचने के बाद दो लाभ तो स्पष्ट ही हैं एक तो यह कि यहाँ से चाहे जब विदेश भागा जा सकता है और दूसरा यह कि चाहे जब वहाँ से भारतीय सीमा में घुस कर आसानी से तोड़-फोड़ की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की चरम परिणति २३ जून को सामने आई जब एयर इंडिया के “कनिष्क” नामक विमान को अटलांटिक महासागर के ऊपर बम विस्फोट ग्रास से उड़ा दिया गया और उसमें स्त्रियों और बच्चों समेत ३२६ व्यक्ति काल के ग्रास बन गये। इस बम विस्फोट में उन्हीं सिख आतंकवादियों का हाथ समझा जाता है जिन्होंने प्रधान मन्त्री श्री राजीव गाँधी की अमरीका यात्रा के समय उनकी हत्या की योजना बनाई थी। पर अमरीकी गुप्तचर विभाग ने उस साजिस का भण्डाफोड़ करके अनेक संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया था। कनाडा में बसे अमन्द सिंह और लाल सिंह का कनिष्क को गिराने में हाथ समझा जाता है। ये वही व्यक्ति हैं जिनकी अमरीकी गुप्तचर विभाग को प्रधान मन्त्री की हत्या के षडयंत्र में तलाश थी और ये पकड़े नहीं जा सके थे। अब अमरीका ने इन दोनों को पकड़ने के लिए भारी इनाम की घोषणा की है।

अब तक आतंकवादियों ने विमानों के अपहरण तो किये थे,

सारे संसार का ध्यान भी आकर्षित किया था, अपनी शर्तें भी मनवाई थीं और शर्तें न मानने पर थोड़ा-बहुत खून खराबा भी किया था। पर अन्त में आत्मसमर्पण कर दिया था। इस तरह यात्रियों की जान के साथ खून की होली इससे पहले कभी नहीं खेली गई थी। ये कैसे सिरफिरे लोग थे जिन्होंने न कोई चेतावनी दी, न यात्रियों को कोई मोहलत दी और इस प्रकार अपनी हैवानियत से इंसानियत को कलंकित कर दिया।

अब तक विमानों के अपहरण में फिलस्तीनी काफ़ी नाम कमा चुके हैं। जोर्डन से लेकर लेबनान तक युद्धों में उन्होंने रक्तपात भी किया है, पर आज तक किसी फिलस्तीनी के दिमाग में यह खुराफात नहीं आई कि यदि किसी इजराइली या अमरीकी विमान को हवा में ही उड़ा दिया जाय तो उन्हें अपना खोया हुआ फिलस्तीन मिल जायेगा। निश्चय ही भिडरावाले के प्रेत ने अमन्द सिंह और लाल सिंह की बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उन्होंने सोचा कि एयर इंडिया को नष्ट कर देंगे तो इंडिया स्वयं नष्ट हो जायेगा। ऐसा ही बुद्धि-भ्रम गत वर्ष ३१ अक्टूबर को उन दो 'सिंहों' को भी हो गया था, जिन्होंने सोचा था कि इन्दिरा को गोली मार देंगे तो इण्डिया मर जाएगा।

'कनिष्क' की इस दुर्घटना से सारी दुनिया को पता लग गया कि असल में आतंकवाद का रूप कितना घिनौना है। अमरीका के राष्ट्रपति रीगन भी जान गये कि यदि हर असंजुष्ट समुदाय में ऐसे केवल दो "लाल" पैदा हो जायें तो संसार के हवाई यातायात की क्या गति होगी। इस प्रकार के आतंकवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जिहाद छेड़ने के लिए अमरीका के

राष्ट्रपति ने अपने उपराष्ट्रपति को पश्चिमी यूरोप की यात्रा पर भी भेजा। पर “दीपक तले अन्धेरे” की बात यूँ साबित हुई कि अमरीका के राष्ट्रपति का स्वयं अमरीका के उन केन्द्रों की ओर ध्यान नहीं गया जिनमें आतंकवादियों को प्रशिक्षण दिया जाता था। अमरीका के ही प्रसिद्ध समाचार पत्र “न्यूयार्क पोस्ट” ने अलाबामा के उस रेकांडों स्कूल का ब्योरा दिया है, जिसमें अमंद सिंह और लाल सिंह ने प्रशिक्षण प्राप्त किया था। इस सस्था के निदेशक फ्रैंक केपर के कथनानुसार एक अन्तराष्ट्रीय सिख संगठन ने उन्हें १० लाख डालर देकर उसके बदले भारत के २० चुने हुए व्यक्तियों को मारने का ‘ब्लू प्रिंट’ तैयार करवाया था।

संभव है, दक्षिण दिल्ली के लोकप्रिय सांसद और श्रमिक आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता ललित माकन और उनकी पत्नी की हत्या इसी ब्लू प्रिंट का परिणाम हो। एक बात निश्चित है, इस आतंकवाद का मुकाबला संसार के सब देशों को मिलकर करना होगा। अन्यथा यह आतंकवाद संसार में किसी भी भले आदमी का जीवन दूभर कर देगा। यह आतंकवाद कोई “वाद” नहीं है, इसमें सिद्धान्त और दोन-ईमान का कोई सवाल नहीं है। इन्हें आतंकवादी मत कहो! ये कायर हैं, केवल हत्यारे हैं। इनका किसी धर्म से कोई वास्ता नहीं, इनका इन्सानियत से भी कोई वास्ता नहीं। ये सिर्फ आततायी हैं। और आततायियों के लिए मनुस्मृति में लिखा है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।

प्रकाशं वा अप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥

—चाहे गुरु हो, चाहे बालक हो, चाहे वृद्ध हो, चाहे बहुत पढ़ा-लिखा विद्वान् ब्राह्मण हो, जब आततायी बनकर आता है तो बिना विचारे उसको मार ही देना चाहिए । आततायी के वध में मारने वाले को कोई दोष नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार प्रकट या अप्रकट रूप से जिसने मानवता की हत्या की है उसका यही उपाय है ।

जब तक सारे संसार के देश इन तथ्याकथित आतंकवादियों की समाप्ति के लिए इस प्रकार का कठोर रुख नहीं अपनायेंगे तब तक समस्या का समाधान होने वाला नहीं । □

[११ अगस्त १९८५ ई०]

आसू के आंसू की जय हो !

२४ जुलाई को अकालियों के साथ समझौता हो जाने के पश्चात् न केवल पंजाब की जनता ने बल्कि समस्त देशवासियों ने राहत की सांस ली थी । उसके बाद सबका ध्यान तुरन्त असम समस्या की ओर गया था और सब मन से यह कामना कर रहे थे कि किसी तरह असम की समस्या का भी समाधान निकल आवे तो कितना अच्छा हो ! आखिर प्रधानमन्त्री की व्यवहार-बुद्धि ने इस समस्या का समाधान भी खोज निकाला और १५ अगस्त को स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष्य में लालकिले की प्राचीर से भाषण देते हुए श्री राजीव गांधी ने अपने भाषण के बीच में यह शुभ समाचार भी राष्ट्रवासियों को सुना दिया । इस समस्या के समाधान में कितने उतार-चढ़ाव और कितनी ऊहापोह चलती रही, यह इसी से स्पष्ट है कि रात को पौने ३ बजे समझौते पर प्रधान मन्त्री की उपस्थिति में हस्ताक्षर हुए । प्रधान मन्त्री रात भर सो नहीं पाये और इस समझौते के बाद वे संभवतः सीधे १५ अगस्त के कार्यक्रमों की तैयारी में जुट गये होंगे । अन्त में आसू (अखिल असम छात्र संघ) के आंसुओं की विजय हुई ।

जिस तरह लोग यह कहते हैं कि पंजाब के सम्बन्ध में जो समझौता अब हुआ वह अब से तीन साल पहले भी हो सकता था, वही बात इस असम समझौते के बारे में भी कही जाती है कि यदि यही समझौता होना था तो अब से कई साल पहले भी

हो सकता था। इस विश्लेषण में सच्चाई है। परन्तु फिर वही बात दुहरानी पड़ती है कि लोहे के दो टुकड़े तब तक नहीं जुड़ सकते जब तक दोनों को तीव्र ताप में से न गुजरना पड़े। इस समझौते में केवल प्रधानमन्त्री की ही व्यवहारबुद्धि नहीं है, बल्कि असम के उन छात्रों की भी समझ कम सही नहीं रही जिन्होंने निरन्तर ६ वर्षों तक अपने हृदय में तीव्र वेदना और आँखों में आसू लिए इस कष्ट रस के संघर्ष-पूर्ण महाकाव्य का सृजन किया था। एक तरफ पंजाब था, दूसरी तरफ असम। एक तरफ कष्ट रस था, दूसरी तरफ रौद्र रस। एक तरफ आँखें आँसुओं से गीली थीं, दूसरी तरफ निर्दोष लोगों की हत्या के खून से हाथ रंगे हुए थे। असम के छात्रों को समस्या के समाधान के लिए वात्सल्य रस की जरूरत थी। भारत के प्रधान मन्त्री के पद पर मातृपद को सुशोभित करने वाली एक महिला के होते हुए भी वह वत्सलता और ममता उन्हें नहीं मिली। छात्रों ने जिस अहिंसात्मक ढंग से आन्दोलन चलाया वह अपने आप में एक उदाहरण बन कर रह गया। उनकी माँगें संविधान के अन्तर्गत थीं और अपनी अस्मिता के साथ राष्ट्रीय हित से जुड़ी थीं जबकि पंजाब के अकालियों की माँगें केवल अपना बोलबाला कायम करने के लिए थीं।

पंजाब और असम में एक और भी बड़ा अन्तर है। पंजाब का आन्दोलन एक अलग स्वायत्त प्रदेश की माँग और अलगाववाद का विषय अपने अन्तरतल में छिपाये था, तो असम-वासियों की सबसे बड़ी चिन्ता का विषय ही यह था कि यदि इसी तरह विदेशियों को असम में आने की छूट दी जाती रही तो वे भी किसी दिन अलग स्वायत्त प्रदेश माँगने की बात कर सकते हैं।

पंजाब के अकाली जहाँ केवल धर्म की आड़ लेकर आन्दोलन करते थे वहाँ असम का आन्दोलन किसी धर्म या संप्रदाय के नाम पर नहीं बल्कि पूरे असमवासियों के लिए और उनकी अस्मिता को बचाने के लिए किया जा रहा था। अकालियों की अलग पहचान को पंजाब में कोई खतरा नहीं था जबकि असम में अत्यधिक संख्या में बंगलादेशी मुसलमानों के आ जाने के कारण असमवासियों की अपनी पहचान खतरे में पड़ गई थी। यह बात स्वयं चुनाव आयोग ने स्वीकार की थी और जनगणना के आंकड़ों से इस बात की पुष्टि होती थी। पंजाब और असम के आन्दोलनों में तीसरा अन्तर यह था कि पंजाब का आन्दोलन पके-पकाये, विदेशों से शह पाये, चन्द बुजुर्ग घाघ लोगों के हाथ में था, तो असम आन्दोलन का दारोमदार दुनियादारी के दाँव-पेचों से अनभिज्ञ, यौवन की वेहली पर कदम रखने वाले उन छात्रों पर और उन चन्द साहित्यकारों पर निर्भर था जिनका उस आन्दोलन से कोई निजी स्वार्थ सिद्ध होने वाला नहीं था।

अब से ६ साल पहले हमने जब “आर्य जगत्” में यह लिखा था—“असम के छात्रो ! हम तुम्हारे साथ हैं” तब कई लोगों ने आश्चर्य प्रकट किया था कि कोई और समाचार पत्र जो बात नहीं कह रहा है उस बात को कहने की हिम्मत यह अदना सा आदमी कैसे कर रहा है। कुछ लोगों ने इसे हमारा बड़बोलापन समझा, परन्तु आर्य समाज के एक बहुत बड़े तपस्वी नेता ने जब एक दिन दूरभाष पर हमसे कहा—“तुम्हारा यह लेख मैंने बम्बई में पढ़ा और उससे मेरी आँखें खुल गईं। इससे पहले मैं असम के आन्दोलन को केवल प्रादेशिक आन्दोलन समझ रहा था। लेकिन पहली बार तुमने बताया कि यह राष्ट्रीय आन्दोलन है।” उसके

पश्चात् उस तपस्वी आर्य नेता ने असम के आन्दोलन की असंख्यत जानने के लिए स्वयं असम का दौरा किया, हमारे विचारों की सच्चाई का पता लगाया और उसके बाद दिल्ली आकर उस आन्दोलन की सहानुभूति में अनशन भी किया। परन्तु सरकार की हठधर्मी के आगे असम की समस्या और उलझती ही गई। जिसे स्नेहपूर्ण व्यवहार से, छात्रों के प्रति ममता प्रदर्शित करके सुलझाया जा सकता था, उस समस्या को बन्दूकों की गोलियों से सुलझाने का प्रयत्न किया गया। स्पष्ट है कि इस तरह वह समस्या और उलझनी ही थी।

असम और पंजाब की समस्या के उलझते जाने का एक कारण यह भी है कि ये दोनों समस्याएँ बहुत कुछ कांग्रेसी नेताओं द्वारा पैदा की गई थीं। इसलिए भारत की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, जिनके सिर पर कांग्रेस का अध्यक्ष होने के नाते अपने दलीय हितों को सबसे ऊपर रखने की जिम्मेवारी भी थी, उस चक्कर से कभी उबर नहीं पाईं। असम की समस्या को उलझाने में स्व० राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद का अहम रोल था और अन्य कांग्रेसी नेताओं ने अपने वोट बैंक का बैलेन्स गढ़ाने के लिए बंगला देश से आने वाले मुसलमान शरणार्थियों को प्रश्रय दिया था। उसी प्रकार पंजाब के अन्दर भी अकाली नेताओं के मुकाबले में भिडरावाले को खड़ा करने में कांग्रेसी नेताओं का ही दलीय हित प्रमुख था। इधर पंजाब में भिडरावाले भस्मासुर बन गया तो उधर असम में बढ़ती हुई मुस्लिम आबादी ने असमवासियों के लिए भस्मासुर का सा ही खतरा पैदा कर दिया। वर्तमान प्रधानमन्त्री की सबसे बड़ी कुशलता इस बात में है कि उन्होंने दलीय हित-अहित की चिन्ता किये

बिना राष्ट्र-हित की चिन्ता की और दोनों स्थानों पर एक राजनीतिक दल के नाते कांग्रेस के लिए खतरा मोल लेकर भी समझौता कर लिया। यद्यपि दलीय हित की इस उपेक्षा से अन्त में लाभ कांग्रेस को ही होने वाला है परन्तु सामान्यतया राजनेता लोग भविष्य के बजाय तात्कालिक लाभों पर अधिक ध्यान देते हैं जिसका दण्ड अन्त में राष्ट्र को भोगना पड़ता है।

जिस तरह हमने अक्टूबर १९७६ में असम के आन्दोलनकारी छात्रों को परामर्श दिया था कि वे अपने आन्दोलन को गाँधीवादी अहिंसात्मक ढंग से चलावें और हिंसा के रास्ते पर न चलें, तभी पूरे राष्ट्र का सहयोग उनको मिल सकता है, उसी तरह एक परामर्श असम के आन्दोलनकारियों को हम फिर देना चाहते हैं। जनवरी १९६६ के बाद से आने वाले लोगों को वोट के अधिकार से वंचित करने की बात का फैसला हुआ है पर उसमें एक बात का सदा ध्यान रखना पड़गा। वे जिनको बहिरागत कहते हैं, उनमें केवल बंगलादेश से आये हिन्दू या मुसलमान ही शामिल नहीं हैं, बल्कि भारत के ही अन्य राज्यों से गये भारतवासियों को भी वे बहिरागतों में शामिल करते हैं। उदाहरण के लिए बंगालियों, बिहारियों और मारवाड़ियों को भी आन्दोलनकारी बहिरागत ही मानते हैं। हम समझते हैं कि स्वदेश के ही किसी भी निवासी को बहिरागत समझकर असम से निष्कासित करना जहाँ उचित नहीं होगा, वहाँ बंगलादेश से आने वाले हिन्दुओं की मजबूरी भी तो समझो। क्या भारत के सिवाय उनको संसार के किसी अन्य देश में शरण मिल सकती है? हम यह सांभ्रदायिक विद्वेष की बात नहीं कह रहे हैं। बंगलादेश से आने वाले मुसलमानों के सामने उद्देश्य कुछ और

था। जबकि हिन्दुओं के लिए बंगलादेश के अत्याचारों से बचने और जीवन धारण करने के लिए भारत में आने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। भारत की आजादी के लिए उन्होंने भी कुर्बानी की थी पर देश-विभाजन की कांग्रेसी गफलत और आंग्ल-कूटनीति ने उन्हें विदेशी बना दिया। इसमें उनका क्या कसूर था ? इसलिए भारत में रहने का उन्हें भी उतना ही अधिकार होना चाहिए जितना अन्य भारतवासियों को। क्या असम के छात्र उनके प्रति उतने ही निर्दय बन जाएँगे जितने कांग्रेसी नेता बंगलादेशी मुसलमानों के लिए सदैव बन गये थे ! यदि ऐसा हुआ तो यह विजय-पर्व एक अन्य अश्रु-विह्वल करुण काव्य का मंगलाचरण बन कर रह जायेगा। □

[२५ अगस्त १९८५ ई०]

“लौंग लिव” लोंगोवाल

आखिर वही हुआ, जिसकी आशंका थी। गुरुद्वारे में गुरु ग्रन्थ साहब के सामने मत्था टेकते हुए संत लोंगोवाल की हत्या कर दी गई। अपना सारा जीवन पंथ की सेवा में लगाने वाले संत की शहादत के लिए इससे अच्छा स्थान और इससे अच्छी घड़ी नहीं हो सकती। गत मास ५ जुलाई को संगरूर में उन्होंने भाषण देते हुए कहा था कि 'हिन्दू और सिख एक ही माँ-बाप की सन्तान हैं। यदि कोई सिख किसी हिन्दू की हत्या करता है तो समझना चाहिए कि वह गुरु तेग बहादुर की हत्या करता है।' इसी भाषण में संत-लोंगोवाल के आत्मबल का परिचय मिला। शायद १० महीने तक कारावास का एकांत भोगते हुए उन्हें आत्मविवेक का जो अवसर मिला उसी का यह परिणाम था कि जेल से छूटने के बाद सिखों में पुनः अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए वे शुरू में उत्तेजक बयान देते रहे, परन्तु धीरे-धीरे उनके सामने यह स्पष्ट हो गया कि आतंकवाद का खुलकर मुकाबला करने के सिवाय न देश के लिए और न ही सिखों के लिए कोई चारा है। जब भिडरावाले के वृद्ध पिता जोगिन्दर सिंह की चुनौती का मुकाबला करने में वे सफल हो गये और अकाली दल ने पुनः सर्वसम्मति से उन्हें ही अध्यक्ष चुन लिया तो उनमें भी आत्मविश्वास बढ़ गया और वे आतंकवाद के विरोध में तथा हिन्दू-सिख एकता के पक्ष में खुलकर सामने आ गये। अगर यह आत्मबल उनमें पैदा न होता तो पंजाब समझौता भी न होता। क्योंकि वे जानते थे कि भिडरा-

बाले के अनुयायियों ने सिखों में एक ऐसा वर्ग तैयार कर दिया है जो किसी भी तरह का कोई समझौता सरकार के साथ करने को तैयार नहीं है। जिस संगरूर में पहली बार उन्होंने आत्म-बल का स्पष्ट परिचय दिया उसी संगरूर के शेरूपुरा गाँव में उनकी हत्या हो गई।

हम असें से यह कहते आये हैं कि सिखों में कोई ऐसा नेता नहीं है जो भयमुक्त हो और सच्चाई के लिए गर्दन तानकर खड़ा होने को तैयार हो। सिखों का आज तक यही सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है। जब तक उनका नेतृत्व किसी राष्ट्रवादी नेता के हाथ में रहा तब तक वे राष्ट्रीय धारा से केवल जुड़े ही नहीं रहे, बल्कि सफरमैन की तरह सबसे आगे रहे। किन्तु आजादी के पश्चात् ऐसे अवसर बहुत कम आये। अधिकतर उनका नेतृत्व साम्प्रदायिक नेताओं के हाथ में रहा। इसीलिए वे राष्ट्रीय धारा से कटते चले गये और धीरे-धीरे अलगाववाद की उस सीमा पर पहुँच गये जिसके एक सिरे पर भिडरावाले था और दूसरे सिरे पर "ब्लू स्टार आपरेशन"। दोनों स्वितियाँ बहुत स्वाभाविक नहीं थीं। जब आतंकवाद की पराकाष्ठा ने भिडरावाले को भस्मासुर बना दिया तब उसके लिए "ब्लू स्टार" आपरेशन केवल इन्दिरा गाँधी की नहीं, बल्कि भारत के हरेक प्रधानमन्त्री की मजबूरी होती। क्योंकि देश को खंडित होने से बचाने का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उसी पर होता है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने प्रधानमन्त्री के नाते अपने कर्तव्य का पालन किया। भले ही इसके लिए उन्हें अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी। जब किसी प्रधानमन्त्री को अपने लोगों के विरुद्ध बड़े पैमाने पर सैनिक कार्रवाई करनी पड़े तब सचमुच ही

वह अस्वाभाविक और दुःखद स्थिति होती है। परन्तु जो आत्मबल लोंगोवाल ने सन् १९८१ के जुलाई मास में प्रकट किया, वही आत्मबल भिडरावाले के काल में प्रकट किया होता तो देश को ब्लू स्टार आपरेशन और उसके बाद नवम्बर के दंगों के हादसों से न गुजरना पड़ता। हो सकता है कि यदि यह आत्मबल लोंगोवाल ने तब प्रकट किया होता तो तभी उनकी हत्या हो जाती। अब भी सिख नेतृत्व यह बहुत बड़ी चुनौती है जो लोंगोवाल की हत्या के बाद और बढ़ गई है कि जो भी कोई सम्पूर्ण सिख समाज को आत्मघात के मार्ग पर चलने से बचाने के लिए, हिन्दू सिख एकता के लिए और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अपनी आवाज बुलन्द करेगा उसकी वही गति होगी जो संत लोंगोवाल की हुई है।

सन्त लोंगोवाल ही क्यों, सत्य के पुजारियों के लिए विधाता ने यही नियति निर्धारित की है। या तो सुकरात की तरह और दयानन्द की तरह उसे जहर का प्याला पीना पड़ेगा, या सरमद की तरह सूली पर चढ़ना पड़ेगा। परन्तु विधाता की सृष्टि का इससे बढ़कर सौभाग्य और क्या होगा कि सत्य के पुजारियों के लिए यह नियति निर्धारित होने पर भी संसार में हमेशा कोई न कोई ऐसा सत्य का पुजारी प्रकट होता ही रहता है जो शास्त्र के 'सत्यमेव जयते नानृतम्' के वचन को अपने रक्त की साक्षी से सही सिद्ध करता है। संसार ऐसे ही सत्य के पुजारियों के आधार पर टिका है; सत्य का गला घोटने वाले आतंकवादी हत्यारों के बल पर नहीं।

सन्त लोंगोवाल की इस हत्या ने कुछ ऐसे सवाल खड़े कर दिये हैं जिनका उत्तर देने के लिए सिख समाज को अपनी

आत्मा में झांकना पड़ेगा। सबसे पहला सवाल तो यह है कि क्या गुरुद्वारे में ग्रन्थ साहब के सामने मत्था टेकता हुआ कोई सन्त भी सुरक्षित रह सकता है या नहीं। अब तक सिख नेता यह कहते रहे हैं कि सेना ने स्वर्ण मन्दिर में प्रवेश करके उसको पवित्रता भंग की और भिडरावाले उसकी रक्षा करते हुए मारे गये। इसलिए वे और उनके साथी पंथ के शहीद हैं। कुछ लोग उनका नाम अरदास में भी शामिल करना चाहते थे। कहा जाता है कि यही सिख परम्परा है। परन्तु क्या गुरुद्वारे जैसे धार्मिक स्थान में भी किसी सन्त का जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता और गुरुद्वारों को राजनीति का अखाड़ा और अस्त्रागार बनाया जा सकता है? तब क्या सिर-फिरे लोग किसी भी और व्यक्ति को कहीं भी सुरक्षित रहने देंगे?

इन्दिरा गाँधी की हत्या करने वालों की निन्दा करते हुए जिन लोगों की जबान दुखती थी, जो बेअन्त सिंह को शहीद घोषित कर रहे थे और सतवन्त सिंह के परिवार को "सरोपा" भेंट कर रहे थे, वे अपनी छाती पर हाथ रख कर बतायें कि शहीद कौन है? लॉगोवाल शहीद हैं या उनको मारने वाले हत्यारे शहीद हैं? भिडरावाले को शहीद कहने वालों को फिर से सोचना पड़ेगा कि शहादत का मानदण्ड क्या होना चाहिए। जिन लोगों ने लॉगोवाल की हत्या पर खुशी मनाई, या मिठाई बाँटी (परमात्मा करे, यह खबर झूठी हो!) उनको यह सोचना होगा कि कल को इसी स्थिति का सामना उन्हें भी करना पड़ सकता है। तब क्या सिख समाज में कोई सत्य का पुजारी फिर पैदा नहीं होगा?

अकाल तख्त के ग्रन्थियों के सामने यह खुला सवाल कि वे

आतंकवादियों के विरुद्ध और गुरुद्वारे में कृपाण के अलावा कोई भी और हथियार लेकर आने के विरुद्ध “हुक्मनामा” जारी कर सकते हैं या नहीं। जो ग्रंथी धर्म के नाम पर तोहड़ा और तलवंडी जैसे राजनीति के खिलाड़ियों की शतरंज के मोहरे बने रहे, क्या लोंगोवाल की हत्या से उनकी आँखों में आँसू की एक भी बूंद आई? अगर उनकी आँखें खुशी से चमक उठीं तो समझना चाहिए कि सिख समाज को आत्मघात की ओर ले जाने में सबसे बड़ा हाथ इन ग्रंथियों का ही होगा। अकाल तख्त के जो ग्रंथी स्वर्ण-मन्दिर में भिड़रावाले और उनके आतंकवादी साथियों को अपनी राष्ट्रविरोधी कारवाइयाँ करने से नहीं रोक सके, वे कैसे धर्म ठेकेदार हैं? जिनमें सबसे अधिक आत्मिक बल होने की आशा की जा सकती थी वे सबसे अधिक कमजोर निकले। धर्म के नाम पर अधर्म को प्रश्रय देने वाले इन ग्रंथियों को ‘तनखैया’ कौन घोषित करेगा?

सरकार ने सन्त लोंगोवाल के साथ, सारे सिख समाज को अलगाव से बचाने के लिए काफी श्रुत कर जो समझौता किया वह उसके प्रति ईमानदार है। यह इसी से स्पष्ट है कि उसने अपनी ओर से चण्डीगढ़ पंजाब को मिल जाने के पश्चात् जो हिन्दी भाषी प्रदेश हरियाणा को मिलने हैं उनके बारे में विचार करने के लिए आयोग की नियुक्ति कर दी है। अब देखना यह है कि सिख समाज उस समझौते के प्रति कितना ईमानदार है? सन्त लोंगोवाल के रहते यह विश्वास किया जा सकता था कि वे बादल, तोहड़ा, तलवंडी और जोगिन्दर सिंह द्वारा समझौते का विरोध किये जाने के बावजूद सिख समाज को समझाकर सही रास्ते पर ले जा सकेंगे। उनकी हत्या के बाद अब यह

जिम्मेवारी सुरजीत सिंह बरनाला के ऊपर आयी है। पंजाब समझौते के सम्बन्ध में उनकी भी उतनी ही बड़ी जिम्मेवारी है। हम आशा करते हैं कि लोंगीवाल ने इतने मानसिक संघर्ष के पश्चात् जो आत्म-दीप की ज्योति जलाई थी वही ज्योति बरनाला की आत्मा को भी प्रकाशित करेगी और इस प्रकार लोंगीवाल मर कर भी अमर हो जायेंगे। 'लौंग लिब' लोंगीवाल ! □

[१ सितम्बर १९८५ ई०]

श्रीकृष्ण के इस स्वरूप को कौन पहचानेगा ?

योगेश्वर श्रीकृष्ण से लेकर “चोर जार-शिखामणि” तक श्रीकृष्ण के इतने रूपों का चलन है कि हरेक पर ग्रन्थों की भरमार है। परन्तु आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण के जिस रूप की सबसे अधिक चर्चा होनी चाहिए वही रूप सबसे अधिक उपेक्षित है। शायद इसका कारण यह है कि भारतीय जनता ने श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर मनुष्य की कोटि से बाहर कर दिया और अपने मन में यह समझ लिया कि उनकी सारी लीलाएँ अलौकिक थीं इसलिए इस लोक में किसी भी मनुष्य के लिए उनका अनुकरण करना संभव नहीं है। परन्तु महाभारत में श्रीकृष्ण का जैसा चरित्र-कीर्तन किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कोई अलौकिक शक्तिसंपन्न देवता या ईश्वर नहीं, बल्कि मनुष्य ही थे। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ।

दैवं तु न मया शक्यं कर्म कतुं कथंचन ॥

—“मनुष्योचित जो भी प्रयत्न है वह सब यथासाध्य मैं कर सकता हूँ, परन्तु दैव के कार्यों में मेरा कुछ भी वश नहीं है।” महाभारत से और ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे श्रीकृष्ण की मानवीयता सिद्ध की जा सकती है। रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्यों के प्रणेता अपने चरित्र नायकों को “नर” संज्ञा से अभिहित करते हैं। परन्तु परवर्ती

पुराणकर्ता इन नरों को “नारायण” बनाकर उन्हें अपार्यव घरातल पर प्रतिष्ठित करने से बाज नहीं आते ।

महाभारत के समय इस देश में धन-जन सब कुछ था, शक्ति और साहस भी था, परन्तु जनसामान्य में अकर्मण्यता थी । समाज के तथाकथित उच्च वर्ग में आपसी महत्वाकांक्षाओं का टकराव इस सीमा तक पहुँच गया था कि संभवतः देश टूटने के कगार पर होता, यदि श्रीकृष्ण न आते । यह ठीक है कि आर्य जीवन का सर्वांगीण विकास जैसा कृष्ण चरित्र में दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं । और यह भी सही है, स्व० कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी के शब्दों में—“इतिहास की रंगभूमि पर ऐसे व्यक्ति जब अवतरित होते हैं तब दूसरे तत्व पुरुषार्थ-विहिन हो जाते हैं । इतिहास-क्रम रुक जाता है । समय-शक्तियों का मान भूलकर दर्शकों का मोह उसके आसपास लिपट जाता है ।” परन्तु उस समय गान्धार से लेकर सह्याद्रि पर्वत माला तक क्षत्रिय राजाओं के छोटे छोटे किन्तु निरंकुश राज्यों की भरमार थी । उन्हें एकता के सूत्र में पिरो कर सपन्न राष्ट्र को एक सुदृढ़ शासन व्यवस्था के अन्तर्गत लाने वाला कोई नहीं था । उस समय की स्थिति का आभास महाभारत के इस श्लोक से भलीभाँति हो सकता है —

देशे देशे हि राजानः स्वस्य-स्वस्य प्रियंकराः ।

न च सम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दो हि कृच्छ्रमाक् ॥

“छोटे-छोटे प्रदेशों पर अपनी अपनी सत्ता जमा कर राजा कहने वाले तो अनेक थे पर सब अपने-अपने स्वार्थों में लिप्त थे । साम्राज्य की किसी को कल्पना नहीं थी और सम्राट् शब्द से सम्बोधित किया जा सकने योग्य कोई व्यक्ति नहीं था ।

ऐसी स्थिति में सबसे अधिक प्रतापी राजा मगध का जरासन्ध था और वह समग्र भारत का सम्राट बनने के स्वप्न देख रहा था। राजगृह से लेकर मथुरा तक उसका प्रभाव-क्षेत्र था। मथुरा-नरेश कंस उसका सगा दामाद था। चेदि देश का शिशुपाल और सिन्धुदेश का जयद्रथ और हस्तिनापुर का दुर्योधन—ये सभी जरासन्ध के मित्र और वशंवद थे और उसके सम्राट बनने में बाधक बनने के बजाय अपनी अशक्ति के कारण साधक ही अधिक थे। पूर्व की मगधपुरी और हस्तिनापुर की कुरुधुरी ये दोनों तत्कालीन राजनीति के मुख्य सूत्रधार थे।

इस मगध-कुरुधुरी की एक विशेषता तत्कालीन राजनीति की प्रचलित विचार-धारा भी थी जिसके कारण राजा को वंशानुगत और दैवी गुणों से युक्त समझा जाता था। 'राजा परं दैवतम्' उस समय की बद्धमूल मान्यता थी और यह समझा जाता था कि एक बार अगर किसी व्यक्ति ने किसी तरह राज्य हस्तगत कर लिया तो उसके विरोध में आवाज उठाना अनुचित है। प्रजा को हर हालत में राजा का अनुगत ही होना चाहिए। यह विचारधारा इतनी रूढ़ थी कि भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे मनीषी और बुजुर्ग लोग भी दुर्योधन के किसी भी अनुचित काम के विरुद्ध कुछ भी कहने की हिम्मत नहीं करते थे। उस समय इन बुजुर्गों का यही शिष्टाचार था। इस विचारधारा के चलते राजा को निरंकुश और अत्याचारी होने की पूरी छूट थी। इसी विचारधारा के कारण जरासन्ध अन्य अनेक मांडलिक राजाओं को परास्त करके गिरफ्तार कर चुका था और उनके राज्यों को अपने राज्य में मिला चुका था। दुर्योधन आदि अन्य मित्रों की सहायता से एक दिन वह भारत का चक्रवर्ती सम्राट बनने का स्वप्न देखता था।

जहाँ जरासन्ध साम्राज्यवादी विचारधारा का पोषक था वहाँ श्रीकृष्ण मणतन्त्रीय प्रणाली के पोषक थे क्योंकि उनके यादव और वृष्णि कुल में गणराज्य की पुरानी परम्परा चली आ रही थी। जब से मथुरा में कंस राजा बना, उसने गणतन्त्रीय प्रणाली समाप्त करके तानाशाही स्थापित कर दी और प्रजा पर साम्राज्यवादी पंजा पकका कर दिया। उसने अपने पूर्ववर्ती गण-प्रमुख महाराज उग्रसेन को बन्दी बना लिया। इससे सारी प्रजा अन्दर ही अन्दर घुटन महसूस कर रही थी और विद्रोह के अवसर की प्रतीक्षा में थी। श्रीकृष्ण ने कंस को मार कर जनता के विद्रोह का नेतृत्व किया और एक तरह से मगध धुरी के सूत्र-धार जरासन्ध को अपनी ओर से पहली चुनौती दी। निश्चय ही जरासन्ध इस अपमान को अमृत के घूँट की तरह नहीं पी सकता था। इसलिए उसने बारम्बार मथुरा पर आक्रमण किये। पर हर बार श्रीकृष्ण जनता के सहयोग से छापामार युद्ध द्वारा उसे अकृतकार्य करते रहे। अन्त में जब जरासन्ध ने एक विदेशी राजा कालयवन को लेकर मथुरा पर चढ़ाई की तब कृष्ण ने उतनी बड़ी सेना के सामने किसी भी तरह सफलता की आशा न देखते हुए मथुरा छोड़कर भारत के ठेठ पश्चिम में स्थित समुद्र तटवर्ती द्वारिका को राजधानी बनाया। मगध धुरी को समाप्त कर भारत को पश्चिम से पूर्व तक एक सूत्र में बाँधने के स्वप्न की पूर्ति का ही यह अंग रहा होगा।

इधर कुरु वंश में न्याय और अन्याय के आधार पर दो टुकड़े हो गये थे और दुर्योधन का अन्यायी पक्ष मगध धुरी के साथ जुड़ा हुआ था। तब स्वभावतः ही श्रीकृष्ण ने अन्याय-पीड़ित

और अभावग्रस्त पाण्डवों को अपने उस विराट स्वप्न को चरितार्थ करने का माध्यम बनाया ।

उसके बाद जिस प्रकार बिना सैन्य बल के प्रयोग के भीम के साथ मल्लयुद्ध द्वारा जरासन्ध को समाप्त करवाया, वह कृष्ण की कंस वध के पश्चात् दूसरी सबसे बड़ी विजय थी । इस प्रकार मगध धुरी की कमर टूट जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा से अर्जुन का और नगाप्रदेश की राजकुमारी हिडिम्बा से भीम का तथा अरुणाचल की राजकुमारी रुक्मिणी से अपना विवाह करके पूर्वी सीमान्त के इन प्रदेशों के साथ, जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण हमेशा डावांड़ोल रहने को बाध्य रहते हैं, अपने रक्त सम्बन्ध जोड़े और उत्तर पश्चिम धुरी के साथ उनको एकाकार कर दिया ।

परन्तु अभी हस्तिनापुर के अन्दर आपसी विवाद को समाप्त करवाने के लिए महाभारत होना शेष था, अनिवार्य भी । क्योंकि उसके बिना दुर्योधन सुई की नोंक के बराबर जमीन देने को भी तैयार नहीं था । परन्तु इस महाभारत से पहले श्रीकृष्ण ने पांचाली [द्रौपदी] के साथ पाण्डवों के विवाह द्वारा पाण्डवों के साथ पांचाल नरेश द्रुपद का गठ-बन्धन करा के पाण्डवों को कौरवों से लोहा लेने में समर्थ बना दिया । पाण्डवों की विजय का मुख्य आधार जहाँ यह कुरु-पांचाल की वज्र सन्धि थी, वहाँ कृष्ण की अपनी रणचातुरी भी थी । यदि कृष्ण की नीतिमत्ता न होती तो पाण्डव किसी भी हालत में महाभारत में विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे ।

महाभारत की विजय का सारा श्रेय श्रीकृष्ण को है । महा-

भारत के असली सूत्रधार वही हैं। पर इतने बड़े महायुद्ध के बिना जो उनका विराट् स्वप्न था पूर्व से लेकर पश्चिम तक—मणिपुर से लेकर द्वारिका तक—समस्त भारत को एक दृढ़ केन्द्र के अधीन करना, वह पूरा नहीं हो सकता था। संभवतः श्रीकृष्ण ने आगे भविष्य में होने वाले शकों और हूणों आदि विदेशियों के आक्रमणों की कल्पना करके भी इस महान भारत देश को एक दृढ़ केन्द्र के अधीन करने की योजना बनाई थी। उसी का यह परिणाम था कि आगे लगभग ४ हजार साल तक जब तक यह देश दृढ़ केन्द्र के अधीन रहा, कभी विदेशी आक्रान्ता सफल नहीं हो सके। जब केन्द्र कमजोर हो गया तो उसको चारों ओर से नोचने वाले भी सफल होते दिखाई दिये।

महाभारत का अर्थ केवल महायुद्ध ही नहीं, बल्कि महान भारत और बृहत्तर भारत भी है। भारत के इस विराट् रूप को चरितार्थ करने वाले दिव्य पुरुष श्रीकृष्ण की इस राजनीतिक दिव्य महिमा को समझने वाले कितने लोग हैं ? □

[८ सितम्बर १९८५ ई०]

देवता, मगर किस लोक के ?

वैदिक धर्म में मनुष्य के जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को बताया गया था। इन चारों की साधना के लिए तीन साधन बताये गये थे—ज्ञान, कर्म और उपासना। चारों पुरुषार्थों में से किसी एक के वरण का विकल्प नहीं था। और न ही तीनों साधनों में से किसी एक के अनुसरण का अधिकार। स्वभावतः मनुष्य विशेषोन्मुख होता है, पर संतुलित जीवन के लिए आवश्यक है कि सामान्य की उपेक्षा न की जाय। ऐसा न होने पर जीवन में अतिवाद आ जाता है जो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

वैदिक जीवन का आदर्श संतुलन ही था। यह संतुलन केवल चारों पुरुषार्थों में ही नहीं, बल्कि उनकी प्राप्ति के तीनों साधनों में भी। जब याज्ञिक कर्म-काण्ड की अति हो गई तो उस अति का खंडन करने के लिए बौद्ध और जैन मत सामने आये। पर जब राजसत्ता के सहयोग से उनके विहार त्याग और तपस्या के केन्द्र न रहकर विलासिता के केन्द्र बन गये और धीरे-धीरे वज्रयान, तंत्रयान और सहजयान के माध्यम से वे वामाचार को सदाचार बताने लगे, तब उनकी इस अति के निराकरण के लिये आचार्य शंकर आये और उन्होंने पुनः ज्ञान-काण्ड की दुन्दुभि बजाई।

ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग कभी सामान्य-जन-सुलभ नहीं रहे। इन दोनों न इस लोक की उपेक्षा करके परलोक पर अधिक

बल दिया । ज्ञान मार्ग ने संसार को मिथ्या बताया और कर्म मार्ग ने केवल यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का साधन बताया । रहा उपासना मार्ग तो वह भी इस लोक से परे किन्हीं अपार्थिव देवों की उपासना में अगनी सार्थकता समझने लगा । इस प्रकार जब ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों मार्गों ने भारतीय जनता को इस लोक से पराङ्मुख करके किसी अन्य लोक की ओर उन्मुख कर दिया तब ऐहिक जीवन को सार्थकता प्रदान करने के लिए किसी ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी, जो परलोक के बजाय इसी लोक को जीने के योग्य बनाने में विश्वास रखता हो । श्रीकृष्ण एक ऐसे ही महापुरुष थे । अगर उनमें भी दिव्यता का आधान करना हो तो उनके लिए सबसे अच्छा विशेषण यह होगा कि उन्हें 'लोक देवता' की उपाधि से विभूषित किया जाय ।

इस विशेषण को स्वीकार करने के पश्चात् श्रीकृष्ण के सारे जीवन की घटनाओं की बहुत सुन्दर संगति लग जाती है । कृष्ण शास्त्रों के द्वारा या किसी अन्य राज शक्ति के द्वारा आरोपित देवता नहीं, बल्कि जनता-जनार्दन द्वारा स्वीकृत देवता हैं । देवता को भी हम गलत अर्थ में न लें । बल्कि यह समझें कि श्रीकृष्ण का लोकदेवतापन उनके लोकनायकत्व में चरितार्थ होता है । वे सही मायनों में अभावग्रस्त, पददलित, समाज के धुरंधरों की दृष्टि में हीन समझे जाने वाले, और सत्ता-सम्पन्न लोगों के अन्धाय के नीचे पिसते हुए जन साधारण के अराध्य देव हैं जिसने किसानों, ग्वालों तथा अपने श्रम के द्वारा रोजी-रोटी कमाने वालों को उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित करवाया और उनको समझाया कि तुम्हीं राष्ट्र की सम्पदा और

सुरक्षा का मेरुदण्ड हो। वे यदि निरन्तर अपने सुख-दुख के साथी और सखा श्रीकृष्ण को अपना देवता न मानें तो क्या मानें? श्रीकृष्ण की मुरली और उनका मुरलीधर रूप श्रम के साथ आनन्द को जोड़ने का प्रतीक है। अगर श्रम करते हुए किसी को आनन्द की अनुभूति नहीं होती तो वह श्रम उसके लिए धीरे-धीरे कष्टदायक बन जाता है। श्रम के प्रत्येक कार्य के साथ अगर वंशी की धुन के आनन्द स्वर मुखरित हो जायें तो वही कष्टहारी बन जाता है। 'जोर लगाओ हे इस्का'— इस संवेत आनन्दपूर्ण स्वर के बिना क्या कभी जन-समुदाय कोई जोर लगा सकता है?

आज हमारे विकास कार्यों की विफलता का रहस्य क्या है? सबसे पहले तो यही कि वे विकास कार्य ऊपर से थोपे जाते हैं, आम जनता की उनमें कोई भागीदारी नहीं होती। और विकास कार्यों पर जितना धन निर्धारित किया जाता है वह नौकरशाही के लाव-लशकर के लबाबमे में और अनुत्पादक कामों में ही इतना अधिक व्यय हो जाता है कि वास्तविक विकास कार्यों के लिए धन बचता ही नहीं। हमारे श्रमिक अपने पर्वों त्यौहारों और उत्सवों आदि के द्वारा अपने जीवन में भले ही कभी आनन्द के कुछ क्षण बटोर लेते हों, पर उनके दैनिक जीवन में श्रम के साथ वंशी की ध्वनि कहाँ है? इस आनन्द के लिए हम आकाशवाणी या दूर-दर्शन को माध्यम बनाना चाहते हैं, परन्तु इन माध्यमों द्वारा दिया गया तामसिक आनन्द वंशी-रव के सात्विक आनन्द की तुलना नहीं कर सकता। जिस श्रम को करते आनन्द की अनुभूति नहीं होती, वह भार बन जाता है और मुरलीधर की मुरली के संयोग से ग्वाल-बालों का वही श्रम जीवन का द्वार

बन जाता है। आज हमारा श्रमिक श्रम के भार को ढोते-ढोते राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को पहचानने के बजाय अपने अधिकार की पुकार पर जोर देता है। बिना कर्तव्य के अधिकार नैतिकता-विहीन समाज के निर्माण में सबसे अधिक सहायक होता है।

जब ब्रजभूमि में बाढ़ आई तो कृष्ण ने सरकार के पास बाढ़ निवारण के लिए प्रार्थना-पत्र नहीं भेजा और न ही अखबारों में अपील प्रकाशित करवाई। बल्कि समस्त आबाल बृद्ध नर-नारी को बाढ़-निवारण के अभियान में संयोजित किया और सबको ले जाकर गोवर्धन पर्वत पर शरण दिलायी। तभी वे गोवर्धन गिन्धारी कहलाये। इस गोवर्धन पर्वत को सँभालने में अकेले कृष्ण की अंगुली ही नहीं बल्कि प्रत्येक ब्रजवासी जन-जन की अंगुली उनके साथ लगी हुई थी। तभी ८५ कोस की परिक्रमा वाला यह विशाल पर्वत इस प्रकार अनायास धारण किया जा सका और ब्रजवासियों का जीवनाधार बन सका।

राजस्थान के मरुस्थल के साथ लगी ब्रज भूमि में जब रेत की आंध्रियाँ अयीं अथात् वृत्रासुर ने हमला किया तब भी श्रीकृष्ण ने जन बल का ही सहारा लिया और सारे ब्रज में वृक्षारोपण का इतना बड़ा अभियान चलाया कि सारी ब्रजभूमि अपनी हरियाली के लिए और हरे भरे चारगाहों के लिए प्रसिद्ध हो गई। बाढ़ के प्रकोप से और आँधी के प्रकोप से बचाने में जनता को समर्थ बनाकर श्रीकृष्ण ने आकाश के देवता इन्द्र और मरुत को चुनौती दी कि इस लोक के 'जय जवान' और 'जय किसान' की भावना से अनुप्राणित जन जन जब एकजुट हो जायें तो आसमान के देवता भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

परलोक के देवताओं से इस लोक के देवता कहीं अधिक समर्थ हैं।

श्रीकृष्ण के इस लोकनायक रूप की एक और बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपना सारा जीवन समाज में से आतंक और आतंकवादियों को मिटाने में लगाया। उनका बचपन और किशोरावस्था जहाँ पूतना राक्षसी, वृषासुर, अश्वसुर, धेनूकासुर और वृकासुर जैसे ग्रामशायियों को आतंकित करने वाले आसुरी वृत्ति के प्राणियों को समाप्त करने में बीता, वहाँ उनका जीवन कंस, जरासंध और शिशुगल जैसे प्रजद्रोही, स्वार्थी और आतंक के बल पर शासन करने वाले राजाओं को समाप्त करने में बीता। यही प्रक्रिया उनकी प्रौढ़ावस्था में भी चलती है। दुर्योधन, दुःशासन और जयद्रथ जैसे आतंक और अन्याय पर पलने वाले राजाओं को उन्होंने महाभारत के युद्ध में समाप्त किया। कहने को भले ही महाभारत का युद्ध पाण्डवों ने जीता हो, पर उस महायुद्ध की महान् विजय का सारा श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो केवल लोकनायक श्रीकृष्ण को।

आज भी आतंकवाद ने सहस्र फणों वाले विषधर के समान सारे भारत की जनता को ग्रस रखा है। उस आतंक के कारण शासन तंत्र ही नहीं जवान और किसान भी कम आतंकित नहीं हैं। पुनः 'जय जवान और जय किसान' का नारा लगाने की आवश्यकता है और आतंकवाद की समाप्ति के लिए समस्त जनता को एकजुट करने की आवश्यकता है। और श्रम के साथ आनन्द को जोड़ने की आवश्यकता है। श्रीकृष्ण के रूप में लोक-

देवता की आराधना की यही निष्पत्ति है और इसी पर भारत का भविष्य निर्भर है।

उस लोकदेवता ने परलोक के देवताओं के स्थान पर जिस लोक को देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी लोक की आराधना में यह जीवन व्यतीत हो-आज अपने जीवन के ७० वें वर्ष में प्रवेश करने पर मन की एकमात्र यही कामना है। □

[१५ सितम्बर १९८५ ई०]

चक्रचरण की डायरी का एक पृष्ठ

चपल-चंचल चित्त, चुस्त चाल, चलने का चस्का ! जीवन पथ पर १६ सितम्बर १९१६ से १६ सितम्बर १९८५ तक चलते चलते ६९ वर्ष कब पूरे हो गये और ७० वां वर्ष कब शुरू हो गया. कुछ पता ही नहीं लगा। बन्धु रे ! रात भर तीव्र ज्वर के ताप में तुम तपते रहे, यह तो ७० वें जन्म दिवस की कोई अच्छी शुरुआत नहीं हुई।

कैसा जन्म दिवस और कैसी शुरुआत ! जन्म दिवस तो बड़े लोगों के होते हैं। चक्र-चरण जैसे सामान्य लोगों का कैसा जन्म दिवस ? और तुम शुरुआत की बात कहने हो, तो जन्म दिवस वाला दिन क्या और दिनों से कुछ भिन्न होता है ? हरेक दिन अपने-आप में समान महत्व वाला है। तो आज के दिन को कुछ अलग महत्व देने का क्या औचित्य है ? रहं बात भर रात तीव्र ज्वर में सिकते रहने की, वह तो शरीर का धर्म है। जब शरीर साथ लगा है तो उसके साथ आघि-व्याघि भी अपने-आप जुड़ी ही रहती है। प्रकृति में जब एकदम परिवर्तन हो जाये और तेज गर्मी के पश्चात् अचानक तेज बारिश और ठण्ड का आलम शुरू हो जाय, तो इस प्रकृति विपर्यय के साथ संतुलन रखने के लिए शरीर को ज्वर नहीं होगा तो क्या होगा ? जैसे यह मौसम का उत्पात क्षणिक है, वैसे ही ज्वर का उत्पात भी क्षणिक है।

आखिर मनुष्य केवल शरीर ही थोड़े है ! उसके साथ मन और आत्मा भी तो लगा हुआ है। शरीर को अगर बुखार ने

जकड़ लिया तो जकड़ने दो, मन को बुखार मत होने दो। और सचमुच, बुखार की इस जकड़न के बावजूद मन का हरिण छलांगें लगाने से बाज नहीं आता। अगर छलांगें लगाना छोड़ दे तो वह मन नहीं रहा न !

कहते हैं स्वप्नदर्शी होना बहुत बुरा है। परन्तु अगर स्वप्न न हो तो मन का हरिण व्याध के जाल में फँस कर कब तक अरक्षित रह सकेगा। यह सपनों की ही तो करामात है। कितनी ही विपरीत परिस्थितियाँ क्यों न हों किन्तु मन न स्वप्न देखना छोड़ता है और न ही कभी हार मानता है। चिरजीवन के लिए स्वप्नदर्शी होना आवश्यक नहीं है क्या ?

अब से ६ वर्ष पूर्व जब “आर्य जगत्” का भार सँभाला था तब कुछ हितैषी मित्रों ने कान में फुसफुसा कर कहा था— “बांधों न नाव इस ठाँव बन्धु”। परन्तु तब भी विश्वास था कि हमारी नाव कितनी छोटी क्यों न हों, किन्तु जिस बेड़े के साथ हम उसे बाँध रहे हैं, वह कभी डूबने वाला नहीं। उस बेड़े ही का नाम तो आर्य समाज है। जिस तरह कभी स्व० प्रधानमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने कहा था—‘हम रहें या न रहे, परन्तु हमारा यह राष्ट्र रहेगा।’ उन्हीं के स्वर में स्वर मिला कर कहना चाहते हैं कि हमारे जैसी छोटी-छोटी नौकाएँ तो रोज डूबती उतराती रहती हैं। भले ही वे रहें या न रहें, परन्तु आर्य समाज तो रहेगा।

बड़े आदमी बड़े स्वप्न लेते हैं। अदने से चक्र-चरण ने बहुत छोटे स्वप्न लिये थे। अपनी औकात से बड़े सपने देखने वालों को लोग शेखचिल्ली कहते हैं। परन्तु किसकी औकात कितनी है इसका फैसला करने वाला पैमाना किसके पास है ?

जिस तरह राष्ट्र को एक और अखण्ड करने का स्वप्न हरेक राष्ट्र-भक्त लेता है, उसी तरह राष्ट्र के प्रतीक के रूप में आर्य समाज को एक और अखण्ड रखने का स्वप्न हमने लिया था। और इसके लिए शुरू में ही यह घोषणा की थी कि आर्य समाज की दो भुजाएँ हैं—एक वेद और एक राष्ट्र। केवल वेद वेद चिल्लाने वाले और राष्ट्र की उपेक्षा करने वाले ठीक उसी तरह आर्य समाज को लंगड़ा-लूला बना कर रख देंगे, जिस तरह केवल राष्ट्र-राष्ट्र चिल्ला कर वेद की उपेक्षा करने वाले लोग। हमने कहा था—वेदों का आविर्भाव आर्यावर्त में हुआ, इसलिए वेद और आर्यावर्त का अविनाभाव सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की रक्षा नहीं हो सकती; जिस तरह लोकमान्य तिलक ने समस्त महाराष्ट्र में शिवाजी उत्सव और गणेशोत्सव की परम्परा चलाकर समस्त प्रदेश को राष्ट्रभक्ति से सराबोर कर दिया, उसी तरह यह आर्य समाज का प्रताप था कि उसने समस्त पुराने देवी-देवताओं के स्थान पर वेद को प्रतिष्ठित करके, विशेष रूप से उत्तर भारत को और सामान्य रूप से उत्तर भारत के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों को भी राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत कर दिया। यह कोई सामान्य उपलब्धि नहीं थी। फिर इसके अलावा एक ही समय में पनपे ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज और देव समाज से आर्य समाज को पृथक् करने वाला व्यावर्तक तत्व कौन सा है? यही राष्ट्रवाद ही न! आर्य समाज की समकालीन वे सब संस्थाएँ आज अस्तायमान हैं पर आर्य समाज दिन-प्रतिदिन नित्य नई आभा से प्रदीप्त और प्रसून होता जा रहा है।

उसके बाद दूसरा स्वप्न लिया था आर्य समाज को समस्त पार्टियों और धर्मों से अलग करके एक एकात्मक सूत्र

में संगठित करने का। आर्य समाज की सारी शक्ति इन धड़ेबाजों ने बिखेरकर रख दी है। अन्यथा आर्य समाज जैसा सुसंगठित सुसूचित, अनुशासित और ऐक्यबद्ध संगठन कौन सा है? परन्तु जब विभिन्न धड़े एक ही रथ को अलग-अलग दिशाओं में खींच रहे हों, तो क्या वह रथ आगे बढ़ सकेगा? जब आर्य प्रादेशिक सभा शिरोमणि सार्वदेशिक सभा की एक घटक बन गई और सार्वदेशिक सभा के चुनाव में बाकायदा हिस्सा लेने लगी तो गुरुकुल पार्टी और कालिज पार्टी का यह चिरकालीन विवाद भी समाप्त हो गया और आर्य समाज का रथ आगे बढ़ने को सन्नद्ध हो गया।

आर्य समाज को इस प्रकार ऐक्यबद्ध होते देखकर विघ्नतोषी भले ही अप्रसन्न हो, किन्तु आर्य समाज के हितोषी तो प्रसन्न हुए बिना रह नहीं सकते। इसी एकता के स्वप्न को चरितार्थ करने की फलश्रुति जहाँ लन्दन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में हुई वहीं दूसरी फलश्रुति अजमेर की ऋषि निर्वाण शताब्दी में हुई। अपने उस स्वप्न को चरितार्थ करने में व्यक्तित्व रूप से चक्रचरण को कितना लांक्षित होना पड़ा, यह उसका मन ही जानता है। परन्तु जिसने कभी व्यक्ति को प्रमुखता न देकर और अपने-आप को सबसे पीछे रख कर, केवल उद्देश्य की एकनिष्ठता से उपासना की तो उसमें ऐसी सफलता मिली कि अपन पराये सब उसे देखकर चकित हो गये।

उसके बाद एक छोटा सा स्वप्न और था और वह यह था कि समस्त आर्य जनता की श्रद्धा और आशाओं का केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी किसी तरह विवाद के घेरे से निकल कर सही लोगों के हाथों में आ जाय। गुरुकुल कांगड़ी की जितनी दुर्दशा हुई और

वहाँ जितनी उखाड़-पछाड़ चलती रही, उसे देखकर समस्त आर्य जनता चिंतित थी। आखिर गत सप्ताह वह स्वप्न भी पूरा हुआ और अब यह आशा की जा सकती है कि गुरुकुल अपने पुराने गौरव को पुनः प्राप्त करेगा।

इन स्वप्नों की पूर्ति का बखान करने से किसी के मन में यह धारणा बन सकती है कि जैसे आर्य समाज के क्षेत्र में घटित होने वाली सब घटनाओं का नियामक चक्र-चरण ही है। परन्तु यह भ्रम उसे नहीं है। कइने को कोई महाकवि अकबर के शब्दों में यह भी कह सकता है—

बुद्धू मियां भी हजरते गाँधी के साथ हैं।

गो मुश्ते खाक हैं मगर आँधी के साथ हैं।

सबमुच एक मुट्ठी भर खाक से बढ़ कर चक्र-चरण कुछ नहीं। पर क्या यह उसका सौभाग्य नहीं कि वह जिस आँधी के साथ है, उसमें हवा की एक ओटी सी लहर पैदा करने का श्रेय उसको भी है। इसमें किसी को गर्व की गन्ध आ सकती है। पर यह अपने उद्देश्य के प्रति निश्छल रूप से एकनिष्ठ होने का पुरस्कार भी तो है।

चक्रवरण ! अब तुमने ७०वें वर्ष में प्रवेश किया है। कोई तुम से पूछे कि इतनी सुदीर्घ अवधि में तुमने क्या कमाया ? न तुम नेता बने, न कभी किसी संस्था/सभा के अधिकारी बने; न लेखकों में तुम्हारी गणना है, न वक्ताओं में। तुम भले ही अपने आपको तीस मारखां समझते रहो पर तुम्हारी असलियत हमें मालूम है—

मालूम है हमें सब बुलबुल तेरी हकीकत।

एकमुश्त उस्तखां पर दो पर लगे हुए हैं।

छोटा-सा कद, डेढ़ पसली का आदमी और बातें बघारने में अफलातुन !

यह सब सही है। पर जीवन के इस चौथेपन में कदम रखते हुए न तो यह कहने की हिम्मत होती है—‘आसप्ततियौवनम्’ न हफीज जालन्धरी के शब्दों में—यह कि—‘अभी तो मैं जवान हूँ।’

हरेक उम्र का एक तकाजा होता है। वार्धक्य का भी एक तकाजा है। चक्र-चरण ने यह कभी नहीं चाहा कि वृद्धावस्था न आवे। परन्तु यह जरूर चाहता कि वृद्धावस्था में पनपने वाला लोकैषणा के प्रति मिथ्या मोह उसमें न जागे, अतीत के राग अलापने में वह शान न समझे, युवकों में अनावश्यक रूप से दोष निकालना अपना अधिकार न समझे और सच्चे उत्सास की उपेक्षा करने की जड़ता वह कभी न दिखावे। ये चीजें कभी न आवें, फिर भले ही वृद्धावस्था कल के बजाय आज आ जाय।

दिन भर के परिश्रम से थक कर भगवान भुवनभास्कर अपने सातों घोड़ों की लगाम खींच कर अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। कल फिर नया सूर्योदय होगा। तब हे चक्र-चरण ! तुम्हारी आज की डायरी का यह पृष्ठ बासी पड़ जायेगा। कल इसको फाड़ कर फेंक देना।

यही सतोष बहुत है कि अपने से पहले पीढ़ी और अपने से अगली पीढ़ी के बीच की कड़ी के रूप में चक्र-चरण की अमरता अक्षुण्ण रहेगी। □

[२२ सितम्बर १९८१ ई०]

विदेशी गायों का आयात

५ मई के 'आर्यजगत्' में हमने 'किसान से कसाई तक' जो अग्रलेख लिखा था उसकी काफी चर्चा रही। हिन्दी के लगभग २५-३० समाचार-पत्रों से उसे अविकल या आंशिक रूप से प्रकाशित किया। कई गो-भक्तों ने उसके पक्ष विपक्ष में टिप्पणियाँ कीं। इस सम्बन्ध में विश्व हिन्दू परिषद् के कोषाध्यक्ष श्री सदाजीवन लाल ने अपने अनुभव के आधार पर एक संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसे महाराष्ट्र गोपालन समिति, बम्बई ने प्रचारित किया है। हम यहाँ 'गोधन' नामक सहयोगी मासिक पत्रिका से उसे उद्धृत कर रहे हैं। आशा है कि इस विषय में रुचि रखने वाले समस्त भारतवासी इन सुझावों पर ध्यान देंगे। 'विदेशी गायों के आयात से पूर्व सावधानियों की आवश्यकता' शीर्षक से वे लिखते हैं :—

"भारत ५० जर्मनी से बीस हजार दुधारू (होलस्टीन फ्रीजियन) गायों का आयात करेगा। इन गायों का पाँच हजार का पहला जत्था अक्टूबर में भारत पहुँचेगा, जिन्हें नैनीताल जिले के तराई क्षेत्र सितारगंज में रखा जायेगा। इस फार्म की पाँच हजार एकड़ जमीन में चारा पैदा किया जायेगा। फार्म को इस क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त करने वाले पंतनगर विश्वविद्यालय का भरपूर सहयोग मिलेगा। उत्तर प्रदेश सरकार ने सब बीस हजार गायों को उन्हीं बीस जिलों में रखने की इच्छा व्यक्त की है, जो पंतनगर विश्वविद्यालय क्षेत्र में आते हैं।

भारत को ये गायें निःशुल्क (माल लाने का खर्चा वहन करने की शर्त पर) दिलाने का श्रेय स्पेन की राजकुमारी इरीन को है, जो जगद्गुरु शंकराचार्य कांची कामकोटि पीठ की शिष्या हैं। उनकी प्रार्थना पर यदि फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड आदि देश भारतीय प्रार्थना पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने को तैयार हो गये, तो उसे ऐसी दो लाख गायें, जिनका इस वर्ष इन देशों में दूध के आधिक्य के कारण वध किया जाने वाला था, मिल सकेंगी। भारत में इस समय सवा १८ करोड़ के करीब गायें हैं।

कुछ जानकार आलोचकों ने निम्न कारणों से यह आशंका व्यक्त की है कि ये गायें भारतीय अवस्थाओं के उपयुक्त नहीं होंगी, और शीघ्र ही उसी तरह मर जायेंगी, जिस प्रकार आस्ट्रेलिया से आई विदेशी गायों का एक झुण्ड 'रिन्डरपेस्ट' (पशुओं के एक रोग) का टीका लगते ही समाप्त हो गया था। आलोचकों की आशंका के कारण निम्न हैं—

(१) चूँकि भारत की अवस्थाएँ इन विदेशी गायों के अनुकूल नहीं हैं, और भारत के पास वे साधन उपलब्ध नहीं हैं, जिनकी वे अभ्यस्त हैं, इसलिए वे उतना दूध नहीं दे पायेंगी, जितना वे विदेशों में देती थीं। इसका प्रभाव उनकी सेहत पर पड़ सकता है।

(२) इन गायों में रोग-प्रतिरोधक-शक्ति कम होती है, और इस कारण उनके रोग-ग्रस्त होकर कभी भी मर जाने का भय सदा बना रहेगा।

(३) यूरोपीय देश, जो सदा अपना घटिया फालतू माल ही

तीसरे विश्व के देशों पर थोपने को तैयार रहते हैं, शायद अपनी अच्छी से अच्छी गायें न भेज कर निकृष्टतम गायें ही भेजेंगे।

(४) वे शायद हमें उनकी सेहत का पूरा ब्यौरा भी नहीं भेजेंगे, जिनके अभाव में हमारे लिए उनकी सही देखभाल करना कठिन हो जायेगा।

(५) इन सब गायों को यूरोपीय देशों में मशीनों से दुहा जाता था, और भारत में यह सुविधा उपलब्ध नहीं है; इसलिए उनके द्वारा दिये जाने वाले दूध की मात्रा, हाथ से दूध निकालने से निश्चित ही कम हो जायेगी। मशीन की कीमत एक विदेशी गाय की कीमत से दस गुना अधिक है।

(६) इन गायों की पहली खेप अक्टूबर में भारत आने वाली है। उनके सम्बन्ध में सब आवश्यक सूचनाएँ इतने कम समय में भारत को देना ५० जर्मनी के लिए कठिन होगा, और इन सूचनाओं के अभाव में अच्छी देखभाल में कमी आ सकती है। इसका असर उनकी सेहत पर पड़ सकता है।

(७) इन गायों के आयात का प्रभाव भारतीय नस्लों की गायों पर भी अवश्य पड़ेगा, यदि उन्हें उनसे पृथक् न रखा गया।

गोपालन और भोरक्षा में गहरी रुचि होने के कारण, मैंने इस समस्या पर काफी गहराई से विचार किया है। इस विचार के बाद, मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, वे अपने कुछ सुझावों के साथ, आगे इस स्कीम से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

हम इस स्कीम को सफल बना सकते हैं, बशर्ते कि हम इन गायों की देखरेख में वे पूरी सावधानियाँ बरतें, जो अपेक्षित हैं।

हमारे पास सबसे बड़ा साधन है जनशक्ति का, जो हमारे पास अपरिमित है। प्रशिक्षित, कर्मठ और निष्ठावान् कार्यकर्ता, उत्तम और कुशल प्रबंधक तथा उन स्थानों का सही चुनाव, जहाँ इन गायों को रखा जायेगा—इन बातों का पूरा ध्यान रखकर ही हम इस स्कीम को सफल और यशस्वी बना सकेंगे।

चूँकि भारत में क्रास ब्रीडिंग के प्रयोग सफल नहीं रहे हैं, अतः यह बहुत जरूरी है कि इन विदेशी गायों से उत्पन्न सांडों का प्रयोग भारतीय गायों के साथ क्रास ब्रीडिंग के लिए हरगिज न किया जाये, बल्कि उन्हें देशी गायों से बिलकुल अलग रखा जाये।

मेरी राय में इन गायों के लिए आदर्श स्थल हैं—हिमाचल प्रदेश में किन्नोर, लाहौल-स्पिती, कुल्लू, और चंबा; उत्तर प्रदेश में गढ़वाल, कुमायूँ और पिथौरागढ़ जैसे क्षेत्र; तथा प० बंगाल, जम्मू-कश्मीर, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश तथा मणिपुर जैसे राज्यों के वे स्थान जो काफी ऊँचाई पर स्थित हैं। मगर जहाँ घास बहुतायत से उपलब्ध है। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि वे सब स्थान सड़कों से जुड़े हों ताकि वहाँ उत्पन्न दूध, तथा दूध से बनी वस्तुओं घी, मक्खन, पनीर, दुध-चूर्ण आदि को नगरों और महानगरों में बिक्री के लिए पहुँचाया जा सके। और पिछड़े व उपेक्षित इलाके भी आर्थिक उन्नति की दौड़ में आगे बढ़ सकें।

ये गायें जिन डेयरियों में रखी जायें, उनमें उनकी देखभाल के लिए भूतपूर्व सैनिकों तथा मन से डेयरी का धंधा अपनाने वाले निष्ठावान मेहनती और स्वस्थ व्यक्तियों को, जो गरीबी की रेखा के आसपास का जीवन बिता रहे हों, रखा जा सकता

है। इससे देश को दुहरा लाभ होगा। ये लोग अधिक से अधिक दुग्ध-उत्पादन करने में अपनी जान लगा देंगे, और पड़ोसी देश चीन से संघर्ष होने की स्थिति में अपने देश का बचाव भी करेंगे।

इन गायों के गोबर का उपयोग उन स्थानों पर गोबर-गैस संयंत्र लगाने के लिए भी किया जा सकता है। ये संयंत्र डेयरियों में काम करने वालों को मुफ्त बिजली और चूल्हों के लिए गैस प्रदान करने के अलावा, प्राकृतिक खाद भी प्रदान करते रहेंगे।

भारत को इन देशों से होलस्टीन-फ्रीजियन या रेड डेन गायों के स्थान पर जर्सी गायों की माँग करनी चाहिए, क्योंकि जर्सी गाय के दूध में अधिक वसा होती है, और रोगों का सामना भी वे बेहतर ढंग से कर सकती हैं। भारत को इन गायों को देने वाले देशों से यह भी माँग करनी चाहिए कि वह इन गायों को दिया जाने वाला विशेष 'फीड' भी उचित मूल्यों पर देते रहें तथा वे मशीनें भी सुलभ मूल्यों पर दें, जिनसे विदेशों में उनका दूध निकाला जाता था। और बाद में उस विशिष्ट चारे और दूध दुहने वाली मशीनों का उत्पादन भारत में ही सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

संक्षेप में, भारत को इन गायों की अच्छी देखभाल करके, तथा उनका अच्छे से अच्छा उपयोग करके, ई० ई० सी० और आक्स के प्रवक्ताओं के इस भय को दूर करना होगा कि "यूरोप की डेयरियों की उच्चकोटि की गायों का भारत में जीवित रहना दू पर हो जायेगा।" इन विदेशी नस्लों के बछड़े जो बैल के रूप में भारत की गरम मैदानी आबोहवा में खेती के लिए अनुपयुक्त प्रमाणित हुए हैं, वे हमारे ही देश के ऊँचे व ठंडे

प्रदेशों में बड़े उपयोगी प्रमाणित होंगे क्योंकि शारीरिक बल में वे हमारे बैलों से बड़े चढ़े होते हैं ।

बड़ी संख्या में भूतपूर्व सैनिकों एवं निष्ठावान गोपालकों को घने बसे मैदानों से उठाकर सीमावर्ती ऊँची पहाड़ियों पर बसाने में देश के कई भागों की बस्ती की सघनता और अतीव गरीबी व बेरोजगारी की समस्या भी हल हो जायेगी ।

यह सच है कि भारत में अज्ञान तथा गरीबी की वजह से गायें उपेक्षित हैं, या आवारा की तरह घूमने के लिए छोड़ दी जाती हैं, और भाँति-भाँति के रोगों से पीड़ित होकर असमय में ही मर जाती हैं । मगर उनकी रक्षा हम सिर्फ उनकी पूजा करके नहीं कर सकते इसके लिए हमें उन तरीकों को सीखना होगा, जो विदेशी अपनी गायों को स्वच्छ रखने, तथा उनसे अधिक से अधिक दूध प्राप्त करने में काम में लाते हैं । विदेशों से आने वाली ये हजारों गायें हमें इन तरीकों को सीखने का सुनहरा अवसर प्रदान करती हैं । हमें इस अवसर का अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास करना चाहिए ।” □

[२६ सितम्बर १९८५ ई०]

अंधेरी गली में सूरज की किरण

पंजाब में चुनाव सकुशल सम्पन्न हो गया, इसमें बहुतों को हैरानी हो सकती है और कुछ को अपसोस भी हो सकता है। पर वास्तव में यह भारतीय जनता के अन्तस्तल में विद्यमान उस बद्धमूल एकता की धारा की विजय है जिसे प्रायः पाश्चात्य इतिहासकार जान-बूझ कर अनदेखा कर देते हैं। पिछले चार साल में पंजाब अलगाववाद के छतरे में घिरा था। भस्मासुर के उदय के पश्चात् जो आतंकवाद की लहर चली उसने सारे देश को कँपा रखा था। परन्तु कोई आखिर अपने आप-से कब तक लड़ता रहेगा। बीच में तो एक बार ऐसा लगा कि भिड़रा-वाले अपने जीते-जी जो नहीं प्राप्त कर सका अपने मरने के बाद उसकी प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर गया। पर नहीं, आतंकवाद की विजय न होनी थी, न हुई। बल्कि आतंकवाद की छाती पर चढ़ कर इस चुनाव के द्वारा लोकतन्त्र ने अपनी विजय का परचम लहराया है।

संसार का ऐसा कोई लोकतन्त्रीय देश नहीं होगा जिसमें किसी न किसी मात्रा में आतंकवाद का अस्तित्व न हो। पर आज तक संसार के किसी देश में लोकतन्त्र और आतंकवाद चुनाव का मुद्दा नहीं बना था। पंजाब के चुनाव में सबसे बड़ा मुद्दा यही बन गया और संयुक्त अकाली दल के—जो न संयुक्त है, न अकाली है और न बाकायदा कोई दल है—नये खुर्मेनी द्वारा पंजाब समझौते का विरोध करने, लोंगोवाल को पंथ का

गद्गार कहने और चुनाव का बहिष्कार करने के बावजूद इतनी बड़ी संख्या में जनता ने मतदान में हिस्सा लिया, जितनी बड़ी संख्या में इससे पहले कभी हिस्सा नहीं लिया था।

यह ठीक है कि यह चुनाव फौजी साये में हुआ है। फौजी साये में ही चुनाव असम में हुआ था। पर वहाँ आप जनता ने चुनाव का बहिष्कार किया था इसलिए कितने ही मतदान केन्द्रों पर लोग अपना वोट डालने ही नहीं आये। पर पंजाब में चुनाव के बहिष्कार का नारा ऊपर से लाया गया था जो जनता के सर्वथा प्रतिकूल था। पंजाब की जनता शान्ति चाहती थी। प्रत्येक उम्मीदवार भी अपना जान जोखिम में डाल कर ही चुनाव के मैदान में उतरा था। इस चुनाव का शान्तिपूर्वक निपट जाना आतंकवाद के विरुद्ध लोकतन्त्र के पक्ष में जनमत का द्योतक है।

इस चुनाव की एक विचित्रता यह भी है कि जीतने वाले तो प्रसन्न हैं ही हारने वाले भी कम प्रसन्न नहीं हैं। इसीलिए अकाली दल के कार्यवाहक अध्यक्ष और जहाँ नये मुख्यमंत्री बने सुरजीत सिंह बरनाला ने अपनी विजय पर यह कह कर प्रसन्नता व्यक्त की है कि अब अंधेरी दास्नां और टकराव का युग खत्म हो गया और आसो सौहार्द का नया युग प्रारम्भ हुआ है वहाँ कांग्रेस के अध्यक्ष और भारत के प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने पंजाब में कांग्रेस की हार पर प्रच्छन्न प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा है कि कांग्रेस ने हाथकर पंजाब में लोकतन्त्र और धर्म-निःपेक्षता की लड़ाई जीत ली है। इसका भी मुख्य कारण यही है कि चाहे कांग्रेस हो, चाहे अकाली दल—दोनों का निशाना आतंकवाद था। इस चुनाव ने आतंकवादियों

के मंसूबों को धूल में मिलाकर नीतिकारों के इस कथन को सत्य सिद्ध किया है

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्या गृह्णाम् ।

अभिप्राया न सिद्धयन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥

--सागों के, दुष्टों के और पराये जान-माल का अपहृण करने वालों के इरादे कभी पूरे नहीं होते इसीलिए यह दुनिया टिकी हुई है। आतंकवादियों का मन बीता नहीं हुआ, इस चुनाव की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है।

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भिड़रावाले "आपरेशन ब्लू स्टार" और इन्दिरा गाँधी की हत्या तथा नवम्बर के दंगों से गुजरती हुई अंधेरी गली एकदम समाप्त हो गई है। वह इतना आसान काम नहीं है। पर हाँ, इस चुनाव ने उसे अंधेरी गली में एक सूरज का किरण दिखाई है। अभी अरुणोदय हुआ है सूर्योदय नहीं हुआ।

श्री बरनाला के नेतृत्व में जिस मन्त्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की है उसके सामने कठिनाइयों की कमी नहीं है। सबसे पहले तो उसे अपने अंदरूनी झगड़ों से ही निपटना होगा। अकालियों के चरित्र की यह विशेषता रही है कि वे किसी मोर्चे के नाम पर भले ही संगठित हो जायें, पर जब सत्ता और स्वार्थों का प्रश्न आता है तो वे एक दूसरे की टाँग खींचने में भी कभी पीछे नहीं रहते। श्री प्रकाश सिंह बादल और श्री गुरुचरण सिंह तोहड़ा अभी भले ही दब गये हों, परन्तु वे कब तक चुप रह सकेंगे, यह देखना बाकी है। फिर तलवड़ा और बाबा जोगिन्दर सिंह तो चुप भी नहीं हुए। उनकी नहीं चली यह अलग बात है। परन्तु इस प्रकार जनता द्वारा दूध की मक्खी की तरह

निकाल कर फेंक दिये जाने से क्या उनकी खीझ और नहीं बढ़ेगी ? आखिर उनके दांतों के साथ लगी साम्प्रदायिकता के विष की ग्रन्थियाँ उनको कब तक शान्त होकर बैठने देंगी ? जब तक लोंगोवाल थे तब तक यह आशा की जा सकती थी वे अकाली दल के विरोधी महारथियों को किसी तरह अंकुश में रख सकेंगे क्योंकि अपने आत्मिक बल के द्वारा उन्होंने अकाली और गैर-अकाली जनसमुदाय में ऐसा शीर्ष व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया था जिसके सामने अन्य सब अकाली नेता बौने हो गये थे । अब लोंगोवाल के अभाव में क्या श्री बरनाला इस आंतरिक कलह के मदमत्त हाथी पर अंकुश लगाकर उसे साध सकेंगे ?

अब तक अकाली पार्टी निहायत संकीर्ण स्वार्थी से ग्रस्त होकर विशुद्ध सांप्रदायिक पार्टी बनी रही है । वह नाम पंजाब का लेती रही, परन्तु उसने पंजाबियों को तो क्या कभी गैर-अकाली सिखों की भी परवाह नहीं की । भारतीय संविधान की दृष्टि से सम्प्रदाय-निरपेक्ष राष्ट्र में किसी साम्प्रदायिक राजनीतिक दल को मान्यता देना एक बुनियादी भूल है । भविष्य में अकाली पार्टी को अपना साम्प्रदायिक खोल उतार कर गैर-अकाली सिखों को ही नहीं बल्कि पंजाब के हिन्दुओं को भी उसमें शामिल करना होगा । तभी वह सारे पंजाबियों की आवाज बन सकेगी । अभी तक अकाली दल के रवैये से पंजाब में सामाजिक टूटन ही अधिक आयी है । जब तक उसे नहीं मिटाया जायेगा, तब तक उसका कोई भी कदम सही होने वाला नहीं है ।

अब तक अकाली दल धर्म और राजनीति का घालमेल करके अकाल तख्त के माध्यम से अपनी राजनीति चलाता रहा

है। क्या भविष्य में बरनाला भी अपनी सरकार के समस्त निर्णयों को लागू करने से पहले अकालतख्त के ग्रन्थियों की अनुमति लेंगे ? यदि अनुमति नहीं लेंगे तो क्या धीरे-धीरे अकाल तख्त फिर भारत तख्त के मुकाबले में खड़ा होने का प्रयत्न नहीं करेगा ? अकाली दल ने विजय प्राप्त करते ही विभिन्न अपराधों में बन्दी बनाये गये लोगों को आम माफी देने की बात उठाई है। उनमें से अधिकांश पर हत्या और राजद्रोह के अभियोग हैं। बहुनों पर वे अभियोग सिद्ध भी हो चुके हैं। यदि उन सबको छोड़ दिया जाय तो देशद्रोही और देशभक्त में क्या अन्तर रह जायेगा ? इसके अलावा भगोड़े सैनिकों का भी सवाल है। इसके साथ जहाँ सिखों की भावना जुड़ी है, वहाँ सेना का अनुशासन भी जुड़ा है : यदि एक बार इस अनुशासन-हीनता को माफ कर दिया गया तो समस्त सेना के अनुशासन की दृढ़ दीवार में दरार नहीं पड़ जायेगी ?

यदि बरनाला की सरकार आतंकवादियों के दमन के लिए कुछ भी कड़ा कदम उठाने का प्रयत्न करेगी तो तलवंडी और बाबा जोगिन्दर सिंह इस सरकार को भी 'पथ का गद्दार' कहने से नहीं चूकेंगे। फिर भारत के विघटन में रुचि रखने वाले सीमा पार के देश और लन्दन में बैठे खालिस्तान के स्वयंभू राष्ट्रपति जगजीत सिंह चौहान और अमेरिका में बैठे गंगारिंह दिल्लीों क्या अपना धन्धा इतनी आसानी से समाप्त हो जाने देंगे ? यदि बरनाला केन्द्र और कांग्रेस से ज्यादा दोस्ती जतायेंगे तो आतंकवादियों की गुटबन्दी और बढ़ सकती है। और अगर केन्द्र से असहयोग का रास्ता अपनारेंगे तो टकराव का युग समाप्त कैसे होगा ?

श्री बरनाला ने सचमुच ही कांटों का ताज पहना है। पर हमें आशा करनी चाहिए कि बादल, तोहड़ा, तलवंडी और जोगिन्दर सिंह समय की नजाकत को और जनता की नब्ज को पहचानेंगे और पंजाब में चारों तरफ सूर्योदय का प्रकाश फैलने में बाधक नहीं बनेंगे। पंजाब की जनता बहुत अँधेरा झेल चुकी है। सूरज की इस एक किरण को पकड़ कर वह पूर्ण सूर्योदय की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही है। उसकी प्रतीक्षा व्यर्थ न हो, एकमात्र यही कामना है। □

[६ अक्टूबर १९८५ ई०]

इक्कीसवीं सदी का स्वर्ग

चिरकाल से मनुष्य जाति को स्वर्ग की कल्पना मुग्ध करती रही है। जो सुख और ऐश्वर्य मनुष्य इस पृथ्वी पर प्राप्त करना चाहता है और प्राप्त नहीं कर पाता, उसे यथार्थ में बदलने के लिए उसने स्वर्ग की कल्पना की और स्वर्ग का ऐसा मनमोहक चित्र खींचा कि आम आदमी भी उससे आकर्षित होकर ऐसे स्वर्ग का प्रलोभन देने वाले आचार्यों के पीछे आँख बन्द करके चल पड़ा।

एक समय ऐसा भी था जब ईसाई पादरी अपने भक्तों से स्वर्ग के नाम हुण्डी लिखवाया करते थे। वे अपने भक्तों से कहते थे कि तुम को स्वर्ग में ऐश और आराम के जो-जो साधन चाहिए उनकी सूची बनाओ और इस लोक में ऐश के उन साधनों को प्राप्त करने के लिए जितना पैसा खर्च होता है, वह सारा पैसा चर्च में जमा करवा दो। पादरी बाकायदा उस राशि की हुण्डी देगा। हुण्डी की एक नकल चर्च में रखी जायेगी और जब वह अमुक धर्म का अनुयायी दफनाया जायेगा तब ताबूत में उस हुण्डी की दूसरी नकल उस मृत व्यक्ति के सिरहाने रखी जायेगी। आखिर कयामत का दिन आयेगा। तब सब मुर्दे कब्रों में से निकल कर खुदा के सामने हाजिर होंगे। उनके हाथ में अपने सिरहाने रखी हुण्डी की नकल होगी। वह नकल खुदा के सामने पेश की जायेगी और खुदा उस हुण्डी के अनुसार उस श्रद्धालु धार्मिक भक्त के लिए उन सब चीजों की व्यवस्था स्वर्ग

में कर देगा जिनके लिए चर्च में पैसा जमा करवाया जा चुका है।

बाइबिल में, कुरान में या पुराणों में स्वर्ग का जैसा वर्णन आता है उसमें विशेष अन्तर नहीं है। उस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए नाना सम्प्रदायों ने अपने भक्तों के लिए तरह-तरह के कर्मकाण्डों की और नियम-कायदों की व्यवस्था की है। इस स्वर्ग के प्रलोभन में ही भक्त लोग अनेक प्रकार की तपस्या और जटिल कर्मकाण्ड की विधियों को भी विधान के अनुसार पालन करने का पूरा प्रयत्न करते हैं। जिन लोगों ने स्वर्ग की कामना से यज्ञ का विधान किया था, शायद उन याज्ञिकों के मन में भी किसी ऐसे स्वर्ग की कल्पना रही होगी। ऐसा लगता है कि वही कल्पना कालान्तर में पुराण, कुरान और बाइबिल में रूपान्तरित होती हुई चलती चली आई। शायद इस धरा पर जीवन संघर्ष से घबरा कर और अल्प श्रम से अधिकतम लाभ प्राप्त करने की पलायनवादी मानसिक वृत्ति के कारण मनुष्य जाति में स्वर्ग प्राप्ति की यह लालसा बद्धमूल होती चली गई।

इक्कीसवीं सदी का स्वर्ग कैसा होगा इसकी कल्पना वैज्ञानिक और साहित्यकार उपन्यासकार कर पायें या न कर पायें, पर आचार्य रजनीश ने ऐसा स्वर्ग इस धरा धाम पर ही तैयार कर दिया है। अब से ४ वर्ष पूर्व, जब पुणे में उनके आश्रम का विरोध सीमा पार कर गया, राज्य सरकार की भी उन पर वक्र दृष्टि हो गई। स्वयं उनके आश्रम में ही उनके अनुयायियों ने बगावत कर दी और उन पर प्राणाघातक हमला तक हो गया, तब वे एक दिन चुपचाप भारत छोड़कर चले गये। कहाँ? पहुँचे अमेरिका। अपने कुछ अनुयायियों के साथ

जिस स्थान पर उन्होंने शरण ली उस स्थान में भेड़-पालक ईसाइयों का बाहुल्य था। उन ईसाई मतावलम्बी सीधे-सादे देहाती लोगों ने साक्षात् भगवान को अपने बीच पाकर अपने आप को धन्य माना होता। पर ऐसा नहीं हुआ। जिस प्रकार पुणे वासियों ने इस भगवान का अपने यहाँ जीना दूबर कर दिया, उसी प्रकार उस देहाती बस्ती के लोगों ने भी इस भगवान की असलियत को पहचान लिया और वहाँ भी उनको नहीं रहने दिया। तब भगवान् ने सघन रेगिस्तानी प्रदेश में, पोर्टलैण्ड से २०० मील दूर, ६४ हजार एकड़ का एक भूमिखण्ड खरीदा और उसमें रजनीशपुरम् नामक नया नगर आबाद किया। इसी का दूसरा नाम औरंगन है।

अचार्य रजनीश ने इसी नये नगर को इस सदी का नहीं, बल्कि अगली सदी का स्वर्ग बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसा स्वर्ग जिसकी कल्पना बड़ी दिमागी उड़ान भरने वाले लोगों के लिए भी मुश्किल होगी। इस नगर के निर्माण पर भगवान रजनीश ने १५ करोड़ डालर खर्च किये हैं और प्रति वर्ष इस पर लगभग ५ करोड़ डालर और खर्च होता है। इस नगर में रजनीश के अनुयायियों के सिवाय कोई और नहीं रह सकता। लगभग ५ हजार चेले-चेलियों के साथ भगवान् यहाँ विराजते हैं।

स्वर्ग सुख की कल्पना करने वालों के लिए इतना बता देना ही काफी है कि यहाँ ५ सितारों वाले नहीं बल्कि ६ सितारों वाले होटल मौजूद हैं। शानदार जलपान गृह हैं। अत्याधुनिक फैशन की पोशाकें तैयार करने वाले डिजाइनर हैं, नग्न बस्तियाँ हैं, डिस्को नृत्यों की व्यवस्था है और काम वासना की तृप्ति के

सब साधन सुलभ हैं। सही मायनों में 'कामरूप' प्रदेश कोई है तो यही है। यही ऐसी विशेषता है जिसके कारण दूर-दूर से चेले-चेलियाँ बँधे हुए यहाँ चले आते हैं। भगवान् के ठाट-बाट का जहाँ तक प्रश्न है, उनके पास ५ हवाई जहाज हैं और ६१ रौल्स रौयस कारें हैं (रौल्स रौयस कार सबसे महँगी मानी जाती है)।

परन्तु इस स्वर्ग की एक विचित्रता भी है। सब निवासी संन्यासी हैं या संन्यासिनियाँ हैं। सब महँगे गुलाबी परिधान पहनते हैं और सिर पर चमकदार नीले रंग की टोपी धारण करते हैं। हरेक के गले में भगवान् रजनीश के नाम के ताबीज वाली माला है। भले ही इन चेले-चेलियों की आँखों में काम वासना झलकती हो, परन्तु "रजनीशपुरम्" की रक्षा के लिए जिस प्रकार की किलेबन्दी की गई है वह भी इन संन्यासियों के माध्यम से ही की गई है। संन्यासी और हाथ में बन्दूक ? पर "रजनीशपुरम्" की यही विशेषता है। सारे नगर में क्लोज सर्किट के टेलीविजन लगे हुए हैं। सब तरफ निगरानी के लिए चौकियाँ बनी हुई हैं। कोई भी यात्री यदि वहाँ जाना चाहे तो बन्दूकधारी संन्यासियों के पहरे में ही उसे जाना पड़ता है और यह पहरेदार एक क्षण के लिए भी दर्शक का साथ नहीं छोड़ते। मशीनगनों से लैस हेलिकॉप्टर लगातार ऊपर घूमते रहते हैं। स्थान-स्थान पर पिल बाक्स बने हुए हैं और सारे नगर के चारों ओर कांटेदार तारें लगी हुई हैं, जिनमें निरन्तर बिजली की धारा प्रवाहित होती रहती है। उस तार को छूने का अर्थ है क्षण भर में मौत का आह्वान। इतनी तैयारी किसलिए है ? यह सारा एक जासूसी उपन्यास जैसा दृश्य लगता है।

जब से पुणे से पलायन किया तब से पिछले चार वर्षों में रजनीश बिल्कुल अलग-थलग रहे। कहा जाता है कि उनके गले में कैंसर था। उसी का इलाज करवाने अमेरिका गये थे। परन्तु यह निश्चित है कि पिछले ४ वर्षों से उनका बोलना बन्द था। किसी से बात नहीं करते थे। अपने निकटतम व्यक्तियों से भी नहीं। दर्शन भी सर्वथा बन्द। पर अब ४ साल के बाद वे बोले हैं और बोलते ही पत्रकारों के समक्ष उन्होंने घोषणा की है कि मैं भगवान् नहीं हूँ। मेरा कोई वाद नहीं है। इससे पहले तो यह भी खबर थी कि वे अपना अलग “रजनीश-सम्प्रदाय”, अलग धर्म पुस्तक, अलग चर्च और अपने अनुयायियों के लिए बिल्कुल एक अलग धार्मिक-विधान तैयार कर रहे हैं। पर अब अचानक उन्होंने स्वयं अपने पुराने रिकार्ड पर पानी फेर दिया। □

राष्ट्र धर्म के पुरस्कर्ता श्रीराम

हमने योगेश्वर श्रीकृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को सदा राष्ट्र-पुरुष कहा है। राष्ट्र धर्म द्वारा राष्ट्रीय विजय का जैसा अद्भुत उदाहरण इन दोनों महापुरुषों ने प्रस्तुत किया, ऐसा इतिहास के पृष्ठों में दुर्लभ है। अपने चरित्र के द्वारा वे केवल सामान्य मनुष्य नहीं रहे प्रत्युत लोकोत्तर चरित्र के भी धनी बनकर व्यष्टि से उठकर समष्टि के और समस्त राष्ट्र के प्रीति बन गये। यही उनका देवत्व है। श्रद्धालु जनों ने इसी देवत्व को ईश्वरत्व की कोटि तक पहुँचा दिया और यह मान लिया कि उनके जैसा अलौकिक पुरुषार्थ मानव के वश का नहीं है। इस भावना से भक्ति का विस्तार तो हो सकता है, परन्तु जीवन में पुरुषार्थ की प्रेरणा नहीं मिल सकती।

महर्षि वाल्मीकि ने राम के गुणों का वर्णन करते हुए जहाँ उन्हें साक्षात् धर्म का अवतार वेद वेदांग-नत्वज्ञ और रघुवंश-शिरोमणि कहा है, वहाँ उनकी प्रशस्ति में यह भी कहा है—

समुद्र एव गांभीर्ये धैर्येण हिमवानिव !

—अर्थात् वे गम्भीरता में समुद्र के समान हैं और धैर्य में हिमाचल के समान हैं। इस एक ही श्लोक में हिमालय और समुद्र के एक साथ वर्णन में हमें यह व्यंजना प्रतीत होती है कि महर्षि वाल्मीकि अपनी रामायण में जिस व्यक्ति का वर्णन कर रहे हैं, वह केवल दशरथ-सुत और अयोध्या का राजकुमार नहीं है, बल्कि वह हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त इस समस्त आर्या-

वर्त का प्रतीक है। यदि अयोध्या के राजकुमार का वर्णन ही महर्षि वाल्मीकि को अभीष्ट होता तो कदाचित् वे उपमा के रूप में हिमालय और समुद्र का उल्लेख न करते, क्योंकि अयोध्या के पास न हिमालय है, न समुद्र है। हिमालय और समुद्र दोनों प्रकृति की इतनी विराट रचनाएँ हैं, कि न तो इन्हें अनायास किसी एक व्यक्ति की श्रेष्ठता के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिए और न ही किसी लघु भूखण्ड के लिए। छोटे-छोटे प्रवेशों पर राज्य करने वाले राजाओं के लिए तो हरगिज नहीं। हिमालय और समुद्र का एकसाथ वर्णन आते ही तुरन्त उत्तर से दक्षिण तक फैले आर्यावर्त का विशाल भौगोलिक भूखण्ड सामने आता है और ऋषि वाल्मीकि को यही अभिप्रेत है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण ने यदि इस आर्यावर्त को पश्चिमी छोर से लेकर पूर्वी छोर तक—अर्थात् समुद्र तटवर्ती द्वारिका से लेकर बर्मा की सीमा से लगे ठेठ मणिपुर तक—इस देश को एक सूत्र में आबद्ध किया था, तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने उत्तर से दक्षिण तक—अर्थात् नेपाल के सीमावर्ती प्रदेश जनकपुर से लेकर ठेठ दक्षिण में हिन्द महासागर के अन्तर्गत लंका के टापू तक इस देश को एक दृढ़ सूत्र में आबद्ध किया। इन दोनों महापुरुषों का यही राष्ट्र-पुरुषत्व है। इतना बड़ा चमत्कार आज तक किसी अन्य महापुरुष के द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ। इसलिए भारत का जन-जन इन दोनों महापुरुषों का नाम आते ही भक्ति और श्रद्धा से विह्वल हो उठता है, तो आश्चर्य ही क्या है!

जब यह आर्यावर्त चारों ओर राक्षस साम्राज्य से घिरा हुआ था तब राम ने ऋषियों के मार्ग में राक्षसों के साम्राज्य

को छिन्न-छिन्न करके आर्य राज्य का विस्तार किया और उत्तर से दक्षिण तक आर्यों की सत्ता को कण्टक-विहीन बना दिया। उस समय पूर्व में ताड़का और सुबाहु, उत्तर-पश्चिम में बाणासुर और दक्षिण में स्वयं लंकाधिपति रावण आर्यराज्य को निगलने को तैयार बैठे थे। रावण की सेनाएँ दण्डकारण्य तक और जन-स्थान तक पहुँच चुकी थीं। आर्य राज्य पर आये इस भीषण संकट के निवारण में दशरथ अपने-आपको असमर्थ पा रहे थे। तब मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उस संकट के निवारण की योजना बनाई और अपनी योजना की पूर्ति के लिए मर्यादा पुस्तोत्तम श्रीराम को वैदिक धर्म और आर्यजीवन के आदर्श के रूप में साँचे में ढालकर तैयार किया।

श्रीराम शुरू से आखिर तक ऋषियों के परामर्श और उनके पथ-प्रदर्शन में जीवन-यापन करते हैं। एक तरह से वे ऋषियों की ही कृति हैं। और इसीलिए ऋषियों के समक्ष वे जो “निश्चर हीन करों महि भुज उठाय प्रण कीन्ह” की प्रतिज्ञा करते हैं। उसका पूर्णतः पालन करते हैं। हरेक तरह के पारिवारिक संकट उनके सामने आते हैं। उन्हें राजगद्दी भी छोड़नी पड़ती है और १४ वर्ष का वनवास भी स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु जीवन की विषम से विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने अपने सामने जो लक्ष्य निर्धारित किया था उसे ओझल नहीं होने देते। पृथ्वी को निश्चर-विहीन करने की इस योजना में वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज और अगस्त्य आदि सब ऋषि शामिल हैं और इन ऋषियों के आश्रम ही उस योजना के— जिसे गोपनीयता की दृष्टि से और राष्ट्रहित की दृष्टि से “मंत्र” कहना चाहिए—असली सूत्रधार हैं। प्रदेश विशेष नहीं, जाति

विशेष नहीं, वर्ग विशेष नहीं और वर्ण विशेष नहीं, प्रत्युत आसेतु-हिमाचल समग्र राष्ट्र की और जन-जन के हित की योजना बनाने वाले ऋषि 'मन्त्र द्रष्टा' नहीं तो और क्या हैं ? वे सर्वथा निःस्वार्थ भाव से आर्य राज्य के विस्तार की और राष्ट्रहित की योजना बनाते हैं और अयोध्या के राजकुमार के कान में विजय का मन्त्र फूंक देते हैं ।

वेद ने कहा है— अहं भूमिम् अददाम् आर्याय"—अर्थात् मैंने यह भूमि आर्यों को प्रदान की है । सारे संसार की भूमि की बात जाने भी दें, तो भी आर्यावर्त्त की भूमि पर तो आर्यों का एकच्छत्र राज्य होना ही चाहिए । जब राम सीताहरण के पश्चात् किष्किन्धा पहुँचते हैं और बानराधिपति सुग्रीव के दूत बनकर महाबलि हनुमान राम का परिचय पूछने आते हैं तब राम उत्तर देते हैं—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः ॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।

चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः ॥

—अर्थात् 'पर्वतों, नदियों और वनों समेत यह सारी आर्यावर्त्त की भूमि इक्ष्वाकुओं की है और धर्मात्मा भरत इसके पालक हैं । हम आर्य राज्य के स्वामी उसी भरत के धर्मदेश से, अपने आर्य धर्म का विस्तार करने की इच्छा से, इस पृथ्वी पर विचरण कर रहे हैं ।' आपने "इक्ष्वाकूणामियं भूमिः" इस पर ध्यान दिया है ? वही "अहं भूमिम् अददाम् आर्याय" वाली बात है या नहीं ? दोनों का अर्थ स्पष्ट है कि आर्यावर्त्त की भूमि आर्यों की है और उस पर उन्हीं का शासन चलना चाहिए ।

यहाँ रावण के सम्बन्ध में भी कुछ भ्रमों का निवारण कर लेना चाहिए। राक्षस राज के नाते हम उसमें समस्त ऐबों का आरोप करते हैं। परन्तु सच तो यह है कि उसका सबसे बड़ा दोष एक ही था और वह यह कि वह आर्य राज्य को समाप्त कर इस आर्यावर्त पर राज्य स्थापित करना चाहता था। कोई भी आर्य राजा इस बात को कैसे सहन कर सकता था? रावण भी उसका अमली नाम प्रतीत नहीं होता, बल्कि यह लंका की गद्दी पर बैठने वाले राजा का खिताब रहा होगा। जिस तरह अफगानिस्तान के बादशाह "अमीर" और रूस के बादशाह 'ज़ार' कहलाते रहे हैं, उसी तरह लंका की गद्दी पर बैठने वाला राजा रावण कहलाता होगा।

इस राक्षस राज्य को आर्य राष्ट्र का मित्र-गण्ट्र बनाने के लिए ही राम का यह विजय अभियान था। इस अभियान की सफलता के लिए राम ने अयोध्या की सेना का प्रयोग नहीं किया बल्कि आन्ध्र, कर्नाटक और द्रविड़ देश के वनवासियों को अपने साथ मिलाया। अभी तक हम जिन्हें 'वानर' कहते आये हैं, वे बन्दर नहीं थे और न ही हनुमान, सुग्रीव या जामवन्तादि की कोई पूँछ थी। वे वनों में रहने के कारण ही वानर कहलाते थे। वानर और वनवासी का एक ही अर्थ है। राम के १४ वर्ष के वनवास का अधिकतम काल इन्हीं वनवासियों से सम्पर्क साधकर उन्हें आर्य राज्य की विजय का माध्यम बनाने में व्यतीत हुआ था। बिना वनवास ग्रहण किये इन वनवासियों से सम्पर्क संभव नहीं था। इन वनवासियों को अपने साथ मिलाना राम का इतना बड़ा और महान् राष्ट्रीय कार्य था कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

क्या आज भी हम नहीं देखते कि हमारे सारे समाज का सबसे उपेक्षित यह आदिवासी और वनवासी समाज है। विघर्णियों का सबसे बड़ा चरागाह यह आदिवासी समाज ही तो है। राम के बाद इन वनवासियों को अपनाने की दूरदर्शिता और किसी राजनेता ने नहीं दिखाई। इसीलिए राम की वह लंका-विजय केवल सैनिक विजय नहीं थी बल्कि राष्ट्र-धर्म की सांस्कृतिक विजय भी थी जिसमें समस्त राष्ट्र केवासियों का समान सहयोग था। इन वनवासियों को मिलाकर और नगरों तथा ग्रामों की जनता के साथ उनको एकाकार करके ही आर्य राज्य की रक्षा की जा सकती है। लंका-विजय के उदाहरण के रूप में राष्ट्र-धर्म की इस विजय के लिए सतत जागरूक रहना ही विजयदशमी का संदेश है।

२० अक्तूबर १९८५ ई०]

रामायण के स्थानों का भौगोलिक परिचय

अगस्त्य आश्रम—तासिक से दक्षिणपूर्व में २४ मील दूर ।

आनर्त—उत्तरी गुजरात ।

अंग—गंगा और सरयू के संगम पर बिहार स्थित प्रदेश ।

अवन्ती—मालवा की प्राचीन राजधानी, उज्जैन ।

अयोध्या—सरयू के दक्षिणी तीर पर अवध की पुरानी राजधानी ।

भारद्वाज आश्रम—प्रयाग में ।

बिन्दुसर—गंगोत्री से दो मील दक्षिण में स्थित ताल जहाँ भगीरथ ने तपस्या की थी ।

ब्रह्मावर्त—सरस्वती और दृषद्वती (सिन्धु और ब्रह्मपुत्र) के बीच का प्रदेश ।

चन्द्रभागा—चिनाब नदी जो चन्द्रा और भागा नामक दो धाराओं से मिलकर बनती है ।

चर्मण्वती—चम्बल नदी ।

चम्पा—भागलपुर के निकट अंगदेश की राजधानी ।

चित्रकूट—बुन्देलखण्ड में कामतानाथ गिरि जो मन्दाकिनी या पयस्विनी के तट पर स्थित है ।

दक्षिणापथ—दक्षिण भारत । नर्मदा के दक्षिण का प्रदेश ।

दण्डकारण्य—चित्रकूट से गोदावरी तक, पार्जितर के अनुसार बुन्देलखण्ड से कृष्णा नदी तक, फैला जंगल प्रदेश । अन्य

नाम-जनस्थान । बस्तर रियासत जो—अब मध्यप्रदेश का आदि-वासी इलाका है ।

धर्मारण्य—मगध (दक्षिणी बिहार) में ।

गान्धार—काबुल नदी का तटवर्ती प्रदेश जिसमें रावलपिंडी और पेशावर के जिले शामिल थे । इसी प्रदेश की होने के कारण धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी कहलाई ।

गौतम आश्रम—जनकपुर (तिरहुत) से २४ मील पर अहियारी गाँव के पास अहल्या स्थान ।

गिरिव्रज—राजगृह जो महाभारत के समय जरासंध की राजधानी थी । बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध ।

गोकर्ण—गंगोत्री से १४ मील पर गोमुख ।

हस्तिनापुर—कौरवों की राजधानी, मेरठ से २ मील पर ।

हिरण्यवाह—सोन नदी ।

इक्षुमती—कालिन्दी नदी जो कुमायूँ, रुहेलखण्ड और कन्नौज में होकर बहती है ।

इन्द्रप्रस्थ—दिल्ली का पुराना नाम ।

इरावती—रावी नदी ।

कालिन्दी—यमुना ।

कलिंग—उड़ीसा के दक्षिण और द्रविड़देश के उत्तर में स्थित ।

कामरूप—असम ।

कम्बोज—हिन्दुकुश और कश्मीर के उत्तर में, पामीर का प्रदेश ।

काम्पिल्य—कम्पिल, फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ से २८ मील उत्तरपूर्व में ।

कांची—काजीवरम्, द्रविड़ देश की राजधानी ।

कान्यकुब्ज—कन्नौज, गाधिपुत्र विश्वामित्र का जन्म स्थान ।

कर्णाट—कर्नाटक ।

कार्पथ—सिन्ध के पश्चिमी तट पर अटक के पास काला-बाग नामक स्थान । अब पाकिस्तान में ।

कौशाम्बी—इलाहाबाद से ३२ मील दूर, यमुना के दक्षिणी तट पर कोसम ग्राम ।

कौशिकी—कोसी नदी ।

केकय—चिनाब और झेलम का मध्यवर्ती प्रदेश कैकेयी का जन्मस्थान, जम्मू वश्मीर में ।

केरल—मलाबार तट ।

किरात—भारत का पूर्वी भाग, नेपाल ।

कोसल (उत्तर)—अवध ।

कोसल (दक्षिण)—छत्तीसगढ़ ।

कृष्णवेणी—कृष्णा और वेणी नदी की संयुक्त धारा ।

कुरु-जांगल—पांचाल के पश्चिमोत्तर में सम्भवतः कुरुक्षेत्र और थानसर वाला हारयाणा-क्षेत्र ।

लंका—सिंहल द्वीप. कइयों के मत में मध्यप्रदेश में अमर-कंटक, मैडेगास्कर, आस्ट्रेलिया और अरबसागर में स्थित माल दीव टापू ।

लवपुर—लाहौर, जिसे राम के पुत्र लव ने बसाया, अब पाकिस्तान में ।

लोहित्य—ब्रह्मपुत्र नदी ।

मधुमन्त—दण्डकारण्य ।

मधुपुरी—मथुरा, जिसे शबुधन ने बसाया ।

मध्य देश—हिमालय और विन्ध्य का मध्यवर्ती प्रदेश ।

मद्र—रावी और चिनाब का मध्यवर्ती प्रदेश अब पाकिस्तान में ।

मगध—दक्षिण बिहार: जिसकी पश्चिमी सीमा सोन नदी है ।

मागधी—सोन नदी ।

महेन्द्र पर्वत—पूर्वी घाट ।

माहिष्मती—महेश्वर, नर्मदा के दक्षिणी तट पर, इन्दौर से ४० मील दक्षिण में स्थित ।

महोदधि—बंगाल की खाड़ी ।

महोदय—कन्नौज ।

मलयगिरि—पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग ।

मालिनी—सरयू की सहायक नदी चूका, जहाँ कण्व ऋषि का आश्रम था ।

मल्लदेश—मुलतान, जिसे लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु ने बसाया था । कुछ लोग मुलतान को प्रह्लाद द्वारा बसाया मानते हैं । अब पाकिस्तान में ।

माल्यवान्—तुंगभद्रा के तट पर अनागुंडी पर्वत ।

मन्दाकिनी—ऋष्यवान् पर्वत से निकल कर चित्रकूट से होती हुई यमुना में मिलती है । अन्य नाम पयस्विनी ।

मत्स्य—अलवर, भरतपुर ।

मिथिला—जनकपुर, तिरहुत ।

नैमिषारण्य—नीमसर, गोमती के तट सीतापुर से २० मील और लखनऊ से ४५ मील उत्तर पश्चिम में ।

नलिनी—पद्मा या ब्रह्मपुत्र ।

नन्दिग्राम—अवध में फैजाबाद से ६ मील दक्षिण में नन्दगाँव ।

पम्पा—हम्पी (कर्नाटक) के उत्तर में एक सरोवर । इसी नाम की नदी भी है ।

पांचाल—स्तेलखण्ड, गंगा से हिमालय की तलहटी तक फैला प्रदेश । द्रौपदी इसी प्रदेश की होने के कारण पांचाली कहलाई ।

पंचवटी—नासिक ।

पाण्ड्य—तिन्नवेल्ली और मदुराई जिला, तमिलनाडू ।

पर्णाशा—बनास नदी ।

पावनी—धग्घर नदी ।

प्राग्योतिषपुर—गोहाटी, असम की राजधानी ।

प्रलम्ब—बिजनौर से ८ मील उत्तर में मण्डावर ।

प्रसवण—तुंगभद्रा की तटवर्ती पर्वतशृंखला ।

प्रयाग—इलाहाबाद ।

पुष्कलावती—गांधार की राजधानी. पेशावर से १८ मील दूर, आधुनिक चार-सदा नामक स्थान, जहाँ सीमान्त गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ का जन्म हुआ ।

राजगृह—दक्षिणी बिहार में मगध की पुरानी राजधानी ।

रामगिरि—रामटेक, नागपुर से २४ मील उत्तर में ।

रसातल—पश्चिमी तार्तार प्रदेश, जिसमें तुर्कस्तान और कैस्पियन सी (कश्यपसागर) का उत्तरी भाग शामिल था ।

रत्नाकर—पश्चिमोदधि या अरब सागर ।

ऋष्यमूक—तुंगभद्रा के तट पर अनागुण्डी से ८ मील दूर

स्थित पर्वत जहाँ राम की हनुमान और सुग्रीव से भेंट हुई थी । यही स्थान बाद में (१६ वीं १७ वीं सदी में) विजयनगर हिन्दू राज्य का केन्द्र बना जिसके भव्य अवशेष आज भी १२ मील तक फैले पड़े हैं ।

ऋष्यशृंग आश्रम—भागलपुर से पश्चिम में २८ मील दूर ऋषिकुण्ड ।

सदानीरा—राप्ती नदी जो सरयू की सहायक नदी है ।

सह्याद्रि—पश्चिमी घाट ।

शाल्मली—चिनाब की सहायक नदी ।

सांकाश्य—सीता के पितृव्य राजा कुशध्वज की राजधानी, इक्षुमती नदी के तट पर संकिशा ग्राम ।

सरस्वती—घाघरा नदी जो कभी हिसार के पास बहती थी ।

सरयू—घाघरा नदी जो हिमालय के आन्तरिक प्रदेश में धौली गंगा कहलाती है ।

शतद्रु - सतलुज नदी जो मानसरोवर से निकलती है और जिस पर गोविन्दसागर तथा भाखड़ा बांध बना है ।

सौराष्ट्र—काठियावाड़ ।

सौवीर—उत्तर सिन्ध, कच्छ और खम्भात की खाड़ी से लगता प्रदेश ।

सिद्धाश्रम—शाहाबाद जिले में बक्सर के पश्चिम की ओर ।

सिन्धु—सिन्धु नदी और उसका तटवर्ती उत्तरी प्रदेश । अब सिन्ध प्रदेश पाकिस्तान में है ।

श्रावस्ती—राप्ती के तट पर सहेत-महेत गाँव । बौद्ध साहित्य में बहुर्चित ।

शृंगवेरपुर—प्रयाग से १८ मील दूर गंगा के तट पर स्थित सिगरौल ।

सुतीक्ष्ण आश्रम—मन्दाकिनी के उद्गम के आस-पास कोई स्थान ।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र को और रामायण कथा की ऐतिहासिकता को तब तक ठोक ढंग से हृदयंगम नहीं किया जा सकता जब तक वाल्मीकि रामायण में आने वाले स्थानों का भौगोलिक परिचय न हो । रामायण में आए स्थानों का परिचय यहाँ दे रहे हैं । कई स्थानों के परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है । पर इस विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाएगा कि उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक भारत के भूगोल से और उसकी आत्मा से श्रीराम किस तरह जुड़े हुए हैं ।

सुभागधी—सोन नदी ।

शूर मथुरा का निकटवर्ती प्रदेश जो शौरसेनी प्रदेश भी कहलाया ।

सुवर्णद्वीप—जावा ।

स्यन्दिका—गंगा और गोमती के बीच बहती कोसल देश की दक्षिण सीमा बनाने वाली सई नदी ।

तक्षशिला—भरत के पुत्र तक्ष द्वारा बसाई गई नगरी । अब पाकिस्तान में रावलपिण्डी के पास । यहाँ का विश्वविद्यालय प्रसिद्ध था ।

तमसा—टोंस नदी जो आजमगढ़ से होकर बलिया के पास गंगा में मिलती है ।

ताम्रपर्णा—तिन्नवेल्ली में ताम्रवारी नदी ।

त्रिकूट—सिंहलद्वीप (सीलोन) का एक पर्वत ।

उशीनर—दक्षिणी अफगानिस्तान ।

उत्कल—उड़ीसा ।

उत्तरकुरु—तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान ।

उत्तरगा—रामगंगा नदी ।

वाल्मीक—बलख, पश्चिमोत्तर पाकिस्तान ।

वाल्मीकि आश्रम—तमसा (टोंस) नदी के तट पर प्रयाग से २० मील दूर । कुछ लोग कानपुर से १४ मील दूर बिठूर को वह स्थान मानते हैं । सन १८५७ में नानाजी पेशवा का यह क्रांति-केन्द्र रहा ।

वनायु—प्राचीन अरब देश ।

वंग—बंगाल ।

वाराणसी—काशी राज्य की राजधानी ।

वत्स—इलाहाबाद के पश्चिम का प्रदेश जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी ।

वेदश्रुति—तमसा और गोमती के मध्य बहने वाली अवघ्र में स्थित वेइता नदी ।

वेत्तवती—बेतवा नदी ।

विदर्भ—बरार, जो इस समय महाराष्ट्र का भाग है । महाराज नल इसी प्रदेश के राजा थे ।

विदेह—तिरहुत जनक का राज्य ।

विदिशा—भेलसा । शत्रुघ्न के पुत्र ने इसे बसाया था । बौद्ध साहित्य में बहुचर्चित । भोपाल से लगभग ३० मील दूर ।

विपाशा—व्यास नदी जो रटांग दर्रे से निकल कर कुल्लू

होकर बहती है। हिमांचल प्रदेश में इसी पर अब चीन बाँध बन रहा है।

विशाला—हाजीपुर से १८ मील उत्तर में गण्डक नदी के तट पर मुजफ्फरपुर के पास। बाद में बौद्ध साहित्य में यही वैशाली गणराज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें लिच्छवि गण का शासन था।

विश्वामित्र आश्रम—आधुनिक बक्सर के पास कोसी नदी के तट पर कोई स्थान। □

[२० अक्टूबर १९८५ ई०]

एक नई योजना

गत मास बम्बई स्थित आर्य समाज सांताक्रुज के कर्मठ और उत्साही मन्त्री कैप्टिन देवरत्न आर्य ने एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने कहा था—

“हमने आर्य समाज सांताक्रुज की ओर से प्रतिवर्ष किसी आर्य विद्वान् को जो वेद-वेदांग पुरस्कार के रूप में २१ हजार रुपए देने की घोषणा की है, वह कहीं भविष्य में मेरे महामन्त्री पद से हट जाने से पश्चात बन्द न हो जाय इसलिए मैंने एक स्थायी निधि बनाने का निश्चय किया है। यह स्थायी निधि सवा दो लाख रुपए की होगी, जिसके ब्याज से यह कार्य नियमित रूप से चलता रहेगा। इस निधि में लगभग ७० हजार रुपए एकत्र भी हो गये हैं। शेष राशि भी एकत्र करना कोई कठिन कार्य नहीं होगा।

‘मैं चाहता हूँ कि भारतवर्ष की १० प्रसिद्ध और प्रमुख आर्य समाजों इसी प्रकार के संकल्प की घोषणा करें। प्रतिवर्ष एक-एक आर्य समाज इस प्रकार की घोषणा करता जाय और इस निमित्त प्रतिवर्ष सवा दो लाख रुपए की स्थिर निधि बनती जाय। यदि आम ‘आर्य जगत्’ के माध्यम से इस योजना को प्रचारित करें और इसमें पूर्ण सहयोग दें तो मुझे लगता है कि यह कोई कठिन कार्य नहीं होगा। जो आर्य समाज इस प्रकार के संकल्प की घोषणा करेगा उसे हर वर्ष बम्बई महानगरी से ३०-४० हजार रुपए एकत्र करके मैं भी भेजता रहूँगा जिससे

उसको अपना संकल्प पूरा करने में बाधा न हो। यह सारी राशि आर्य प्रादेशिक सभा या सार्वदेशिक सभा के पास सुरक्षित रहे और जब पुरस्कार सम्बन्धी समारोह हो, तब व्याज की राशि धन से प्राप्त ड्राफ्ट बनाकर उस विद्वान के नाम भेज दिया जाय।

“यदि इस प्रकार की योजना बन जाय तो आगामी १० वर्षों में बीस विद्वानों को सम्मानित होने का अवसर प्राप्त होगा। इससे न केवल हमारे विद्वानों को प्रोत्साहन मिलेगा, प्रत्युत वे आर्य समाज की सेवा में निश्चिन्त होकर लगे रह सकेंगे। इससे अन्ततः आर्य समाज का ही लाभ होगा और आर्य समाज का यथेच्छ विस्तार भी।

“मेरी यह भी हार्दिक इच्छा है कि जिस व्यक्ति को वेद-वेदांग पुरस्कार दिया जाय, आप उसके सम्बन्ध में “आर्य जगत्” का उसी विद्वान पर एक विशेषांक प्रकाशित करें ताकि उस विद्वान् के कार्य से सम्बन्धित सारी सामग्री व इतिहास एक स्थान पर एकत्रित हो जाय। इस प्रकार उन विद्वानों के कार्य-कलाप का एक इतिहास अनायास बनता चला जायेगा। साथ ही विशेषांक में उन सब व्यक्तियों के नाम भी साभार प्रकाशित किए जायें जिनके दान से वह सवा दो लाख रुपए की स्थिर निधि तैयार हो।

“मुझे विश्वास है इस प्रकार की घोषणा से आर्य समाज के विद्वानों की अस्त होती हुई पीढ़ी को पुनर्जीवन प्राप्त होगा और स्वयं आर्य समाज में भी नये रक्त का संचार होगा।”

हमने अपनी ओर से श्री देवरत्न आर्य के इस पत्र के उत्तर में इस योजना की सराहना की थी और साथ में अपनी ओर से

यह सुझाव भी जोड़ा था कि जहाँ तक पुरस्कार देने का सम्बन्ध है वह केवल वेद-वेदांग के साहित्य में उल्लेखनीय वृद्धि करने वाले विशिष्ट विद्वानों को ही न दिया जाय, बल्कि आर्य समाज के उन तपस्वी, निष्ठावान् और अनथक सेवकों को भी—जिनमें उपदेशक और भजनोपदेशक दोनों शामिल हैं—इन सूची में सम्मिलित किया जाय जिन्होंने अपने जीवन के अधिकांश भाग में आर्य समाज की सेवा के सिवाय अपनी आजीविका के लिए अन्य कोई कार्य नहीं किया।

उद्योग व्यवसाय में लगी जितनी छोटी या बड़ी कम्पनियाँ हैं, उन सबके लिए सरकार की ओर से कानून बने हुए हैं और हरेक संस्थान में बोनस की, प्रोविडेंट फण्ड की, या पेंशन की व्यवस्था है। स्वयं सरकारी सेवा में कार्यरत कर्मचारियों के लिए भी इस प्रकार के लाभों की कमी नहीं है। उस पर भी प्रत्येक विभाग में अलग-अलग यूनियनों बनी हुई हैं। और वे यूनियनों अपने विभाग के कर्मचारियों के लिए निरन्तर वेतन-वृद्धि और मँहगाई भत्ते आदि के वृद्धि की माँग करती रहती हैं। उनके संगठन के आगे प्रशासन को भी झुकना पड़ता है और शायद कोई वर्ष ऐसा नहीं आता, जब सरकारी कर्मचारियों के मँहगाई भत्ते में वृद्धि न होती हो। अब तो कई महकमों में यह व्यवस्था भी हो गयी है कि जितनी और जिस अनुपात में मँहगाई बढ़ेगी उसी अनुपात में मँहगाई भत्ता भी स्वतः बढ़ता चला जायेगा। यह एक ऐसा दुष्चक्र है जिसमें फँसने के बाद न मँहगाई मिट सकती है, न मँहगाई भत्ते में बढ़ोत्तरी की माँग रुक सकती है। इस दुष्चक्र का परिणाम सारे देश को भोगना ही पड़ता है।

मँहगाई की भी कोई हद है ! दिन-दूनी रात चौगुनी सुरसा के मुँह की तरह यह निरन्तर फैलती ही जाती है । और अब तो हमारे नेताओं ने यह भी कहना शुरू कर दिया है कि विकास के पथ पर आगे बढ़ने वाले देशों को मँहगाई के दौर से गुजरना अवश्यभावी है । एक ओर उपभोक्ता संस्कृति की होड़ और दौड़, दूसरी ओर मँहगाई की मार, और तीसरी ओर आधुनिक युग के अनुरूप निरन्तर बढ़ती हुई इच्छा-आकांक्षाओं का अम्बार ! इन सबके बीच में बेचारे गरीब की तो वही हालत हो जाती है, जैसे राक्षसों की नगरी में राम-भक्त विभीषण की, या बत्तीस दाँतों के पैने त्रिशूलों के घेरे में फँसी अकेली जीभ की । आखिर वह कब तक खैर मनायेगी ?

दीपावली का पर्व लक्ष्मी-पूजन का पर्व है । वेद ने बारम्बार “वयं स्याम पतयो रयीणाम्” कहकर लक्ष्मीपति बनने का आह्वान किया है । ध्यान रखिए, लक्ष्मी का पति बनने के लिए कहा है, लक्ष्मी का दास नहीं । और यह कामना करते हुए वेद ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि हमें भगवान ऐसी लक्ष्मी न दे जो मानव-समाज को पतन की ओर ले जाने वाली हो—“या मा लक्ष्मीः पतयाल्रजुष्टा ।” वेद कौन-सी लक्ष्मी का आह्वान करने का उपदेश देते हैं इसके लिए — “वयं स्याम पतयो रयीणाम्” में पड़ा हुआ “रयि” शब्द स्पष्ट संकेत देता है । यह शब्द ‘रा दाने’ धातु से बनता है । इसका अर्थ यह हुआ कि वेद की दृष्टि में धन वही है, जिसका दान किया जा सके । दान-शून्य धन धन नहीं है । फिर चाहे वह ज्ञान का धन हो, चाहे बल का और चाहे सम्पत्ति का । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण जिस ज्ञान, बल, और धन के स्वामी हैं, उन तीनों धनों की

सार्थकता केवल दान में है। अगर ब्राह्मण ज्ञान का दान नहीं करता तो ब्राह्मण कहलाने के योग्य नहीं। क्षत्रिय यदि बल का दान नहीं करता तो क्षत्रिय कहलाने के योग्य नहीं और वैश्य यदि धन का दान नहीं करता तो वह वैश्य कहलाने के योग्य नहीं। क्योंकि इन तीनों के त्रिविध दानों से ही तो समाज खड़ा है। इसके साथ श्रम को और जोड़ लीजिए। तो चारों वर्णों की व्यवस्था पूरी हो जाएगी और समाज को पक्का आधार भी मिल जाएगा। जो अन्य प्रकार के धनों के अभाव में अपने श्रम रूपी धन का समाज के लिए दान नहीं कर सकता वह शूद्र-श्रमिक-मजदूर कहलाने के योग्य भी नहीं। जो इस व्यवस्था को भंग करता है, अर्थात् उसमें सहायक नहीं होता, उसे निर्विवाद रूप से समाजद्रोही कहा जा सकता है। और समाजद्रोह निश्चित रूप से पाप है। स्वयं वेद ने उनको “केवलाधो भवति केवलादी” कहकर पापी बताया है। गीता में कहा है—“भुंजते ते त्वघं पापा पचन्त्यात्मकारणात्”—जो लोग अपने धन का एकाकी उपभोग करते हैं वे सीधे पाप का उपभोग करते हैं।

लक्ष्मी पूजन के इस पर्व पर हम लक्ष्मीपतियों से कहना चाहते हैं कि अब तक सरस्वती पुत्रों का तिरस्कार बहुत हो चुका। इससे उनको जो हानि हुई वह तो हुई ही, किन्तु लक्ष्मी-पतियों को और पूरे देश को भी कम हानि नहीं हुई। परमात्मा ने आपको लक्ष्मीपति बनाया ही इसलिए है कि आपकी लक्ष्मी सरस्वती-पुत्रों के संभरण में काम आवे। अगर वह इस उद्देश्य के लिए प्रयुक्त नहीं होती तो वेद और गीता के शब्दों में लक्ष्मी-पतियों के लिए कौन सा विशेषण सार्थक होगा, यह हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं।

इसी अंक के अन्तिम आवरण पृष्ठ से अन्दर की ओर "ओम प्रकाश भसीन ट्रस्ट" का एक संक्षिप्त विवरण जा रहा है। इस भसीन परिवार ने सौ हाथों से जितना कमाया, उसकी हजार हाथों से दान करने का एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। भसीन परिवार ने ५१ लाख रुपए का एक ट्रस्ट बनाकर हर वर्ष १० वैज्ञानिकों को, या देश की प्रगति की ओर ले जाने वाले किसी भी क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने वाले विद्वानों को, प्रति व्यक्ति ५० हजार रुपए के हिसाब से प्रतिवर्ष ५ लाख रुपए पुरस्कार देने की व्यवस्था की है। क्या हमारे अन्य लक्ष्मीपति इस उदाहरण से प्रेरणा नहीं ले सकते ?

ऊपर हमने जिस योजना का वर्णन किया है कि यदि आर्य समाज से प्रेम रखने वाले लक्ष्मीपति उस ओर ध्यान दें तो उक्त योजना का पूरा होना कोई कठिन कार्य नहीं है। दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा करने वालों ! प्रभु की असीम कृपा से पुरुष-पुरातन की यह चंचला वधू अपनी चंचलता छोड़ कर आपके घर में स्थिर रूप से निवास करके बैठी है। पर यह ध्यान रखना कि इसके स्वभाव की चंचलता गयी नहीं है। अगर यह चाहते हो कि आपके घर में इसका स्थायी निवास बना रहे तो कुछ ऐसा उपाय करो कि जिससे यह लक्ष्मी अपनी चंचलता भूल जाय। उसका एक ही उपाय है कि अपनी लक्ष्मी को "रयि" बना दो, अर्थात् दान से जोड़ दो। जहाँ लक्ष्मी दान से जुड़ी कि उसकी चंचलता मिटी।

दीपावली के पर्व पर लक्ष्मी पूजन की यही सार्थकता है। उसकी कल-श्रुति की ओर भी कोई ध्यान देगा ? □

[१७ नवम्बर १९८५ ई०]

देर आयद दुरुस्त आयद

अब से ४६ वर्ष पहले का एक दृश्य याद आता है ।

सन् १९३६ के फरवरी मास का प्रथम सप्ताह निजाम हैदराबाद की अदालत में तरुणाई की देहरी पर खड़ा, गुरुकुल कांगड़ी के १५ विद्यार्थियों का पहला जत्था ।

ये सभी विद्यार्थी गुरुकुल में अपनी पढ़ाई छोड़कर अपने सेनापति, आर्य सत्याग्रह के प्रथम सर्वाधिकारी श्री नारायण स्वामी जी महाराज के आह्वान पर उनके साथ प्रथम जत्थे में शामिल होने के लिए आये थे । पर निजाम की पुलिस ने उस तपोमूर्ति को हैदराबाद में सत्याग्रह नहीं करने दिया, बल्कि पकड़ कर रियासत की हद के बाहर शोलापुर पहुँचा दिया । तब जिस दिन शोलापुर से गुलबर्गा जाकर स्वामी जी ने अपने चन्द साथियों के साथ आर्य सत्याग्रह का शुभारम्भ किया, उसी दिन गुरुकुल के इन विद्यार्थियों ने हैदराबाद के सुलतान बाजार में आर्य सत्याग्रह का प्रथम शंखघोष किया ।

मजिस्ट्रेट ने पहला प्रश्न किया—‘आप सब लोग विद्यार्थी हैं ?’ [उत्तर मिला—‘जी हाँ ।’] फिर अगला प्रश्न—‘तब तो आप सब पढ़े लिखे हैं इसलिए सबने हिन्दुस्तान का नक्शा तो देखा ही होगा ?’ [‘अवश्य ।’] फिर अगला प्रश्न—‘उसका रंग क्या है ?’ [उत्तर दिया—‘लाल ।’] तब मजिस्ट्रेट ने शायद हम सबके खहर के कपड़े देख कर कहा—‘मगर हमारी लड़ाई तो लाल रंग से है, फिर आप यहाँ पीले रंग में क्यों आ गये ?’

पाठकों को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि उस जमाने में ब्रिटिश भारत का रंग नक्शे में लाल रहता था और सब देशी रियासतों का रंग पीला हुआ करता था। मजिस्ट्रेट के उक्त कथन में जो गहरी बात छिपी थी उसे सोचकर हम दंग रह गये। शायद किसी देसी रियासत का मजिस्ट्रेट ही ऐसी बात कह सकता था।

मैंने अपने जत्थे के दलपति की हैसियत से उस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—‘मजिस्ट्रेट साहब ! आपने जो पते की बात कही है उसके लिए आपका बहुत बहुत धन्यवाद। पर हम लाल रंग को छोड़कर यदि पीले रंग में आये हैं तो उसका कारण यह है कि हमें लाल रंग में जो धार्मिक और नागरिक अधिकार प्राप्त हैं वे अधिकार यहाँ इस पीले रंग में प्राप्त नहीं हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि हम यहाँ सत्याग्रही बन कर इसलिए नहीं आये हैं कि यह एक मुस्लिम रियासत है। अंग्रेजी राज्य के बजाय देसी रियासतों को हम अधिक अपना समझते हैं, इसलिए यह आशा करते हैं कि जो अधिकार अंग्रेजी राज्य में प्राप्त हैं कम से कम उतने अधिकार तो इन देसी रियासतों में भी नागरिकों को प्राप्त होने ही चाहिए। माननीय मजिस्ट्रेट साहब ! यदि आपको हमारे इस सत्याग्रह में साम्प्रदायिकता की गन्ध आती हो तो आपकी सेवा में अपने सब साथियों की ओर से इतना निवेदन और कर्ना चाहता हूँ कि जिस प्रकार निजाम की मुस्लिम रियासत में नागरिक और धार्मिक अधिकारों का हनन हुआ है यदि वैसा ही हनन कश्मीर में होता, तो हम सत्याग्रह करने के लिए पहले वहाँ जाते, हालांकि वह हिन्दू रियासत है।’

उसके बाद मैंने विस्तार से बताया कि किस प्रकार निजाम रियासत में मूल-भूत मानवीय अधिकारों का हनन हुआ है। जब मैंने आंकड़े देने हुए बताया कि पिछले पाँच सालों में इस रियासत में इतने मन्दिर गिराये गये, इतनी यज्ञशालाएँ ढहाई गईं, इतने स्कूल बन्द किये गये, इतने सामाजिक सत्संगों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगे तो अदालत में बैठी भीड़ कमर सीधी करके और गर्दन ऊँची करके मेरी ओर देखने लगी। स्वयं मजिस्ट्रेट साहब भी एक-टक मेरी ओर देखते रहे।

उसके बाद हम पर प्रतिबन्ध तोड़ कर जलमा और जलूस निकालने, जनता को भड़काने विद्रोहात्मक पर्वे बाँटने और राजद्रोह की कार्रवाइयों में भाग लेने के आरोप लगाए गये। (कानून की परिभाषा में धारा १२६, १२२, १५ और २८)। हमने इन सब आगेपों का खण्डन किया और कहा कि हमने इनमें से एक भी कार्य नहीं किया पर हाँ सत्याग्रह अवश्य किया है। जो हमने किया है, उससे मुकरेंगे नहीं, जो नहीं किया है उसे स्वीकारेंगे नहीं। हमने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, अब आप अपने कर्तव्य का पालन करिए।

तब मजिस्ट्रेट ने हरेक धारा में हमें ६-६ मास की सजा दी और अपनी ओर से यह रियासत कर दी कि वे सब सजाएँ एक साथ चलेंगी—अर्थात् ६ मास में चारों सजाएँ समाप्त हो जाएँगी। इस सजा की घोषणा करते हुए मजिस्ट्रेट ने अपने फ़ैसले में लिखा—‘हिन्दुस्तान के इन बहादुर लड़कों को सजा दी जाए।’

लगभग आधी सदी पहले घटी इस घटना को स्मृति के कोष में से निकालकर पाठकों के समक्ष उपस्थित करने का अभिप्राय

केवल इतना ही है कि उस आर्य सत्याग्रह को जो राजनेता साम्प्रदायिक कहकर कलंकित करने की कोशिश करते रहे, वे कितने भारी भ्रम में थे। सच तो यह है कि आर्यसमाज के चिन्तन में हिन्दू या मुस्लिम जैसी सम्प्रदाय-बोधक शब्दावली को स्थान ही नहीं है। हिन्दू शब्द का भी जब हम समर्थन करते हैं तब उसके राष्ट्र-वाचक अर्थ में ही करते हैं। ऋषि दयानन्द की दृष्टि में मानव जाति एक है, उसी के दो वर्ग हैं—एक आर्य और एक अनार्य। यहाँ आर्य और अनार्य भी जातिवाची या नस्लवाची न होकर केवल गुणवाची शब्द हैं। आर्य का अर्थ है—श्रेष्ठ आचरण वाला और अनार्य का अर्थ है—कुत्सित आचरण वाला। सारे संसार को आर्य बनाने का अभिप्राय भी इतना ही है कि हम सारे संसार को श्रेष्ठ आचार-विचार वाला बनाना चाहते हैं। यही वैदिक धर्म के 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्' के जयघोष का प्रयोजन है।

आर्यसमाज की धार्मिक चेतना कभी राष्ट्रीय चेतना से अलग नहीं रही। उसका धर्म और उसका राष्ट्र सदा हाथ डालकर कदम-ब-कदम एकसाथ आगे बढ़ते रहे। जिन्होंने आर्य-समाज को एक सम्प्रदाय के रूप में देखा, उन्होंने कभी आर्य-समाज के साथ न्याय नहीं किया।

हमने स्वयं आर्य सत्याग्रह में जेल जाने से पूर्व महात्मा गांधी को व्यक्तिगत पत्र लिखकर उनकी सेवा में निवेदन किया था कि किन परिस्थितियों में आर्य नेताओं को सत्याग्रह शुरू करने की घोषणा करनी पड़ी। हो सकता है, महात्मा गांधी के मन में शुरू में इस सत्याग्रह के प्रति कुछ विरक्ति या उदासीनता का भाव रहा हो। पर जब उन्होंने देखा कि आर्यसमाज का सत्या-

ग्रह सारे दौर में सर्वथा अहिंसक बना रहा, तब उस अहिंसा के पुजारी को भी कहना पड़ा कि इतना शान्ति-पूर्ण सत्याग्रह मैंने इससे पहले नहीं देखा। साम्प्रदायिकता के कट्टर शत्रु पं० जवाहरलाल नेहरू को जब यह पता लगा कि १५००० व्यक्ति आर्यसत्याग्रह में निजाम की जेलों में निरन्तर कष्ट सहते रहे, पर किसी सत्याग्रही ने कभी पलट कर हिंसा का आश्रय नहीं लिया, तो वे भी आर्यसमाज के इस आत्मिक और नैतिक बल के आगे नतमस्तक हुए बिना नहीं रहे।

उस पीढ़ी के कांग्रेसी नेता अब नहीं रहे। नहीं रहे वे आर्य नेता भी, जिन्होंने लगभग आधी सदी पहले के उस आर्य सत्याग्रह का उद्घापन किया था और उसमें सक्रिय भूमिका निभाई थी। काल का चक्र सबको लील गया। जो थोड़े बहुत सत्याग्रही बचे भी हैं उनमें से कोई भी अब अपनी आयु के छठे और सातवें दशक से कम में नहीं होगा।

जो सरकार केरल के मोपला कांड में शामिल होने वाले साम्प्रदायिकता के शिकार विशुद्ध अपराधियों को स्वतंत्रता सेनानी का दर्जा देती रही उसकी नजर यदि अब तक विशुद्ध राष्ट्रवादी आर्यसत्याग्रहियों पर नहीं पड़ी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है !

आखिर अब सरकार के कान पर जूं रेंगी है और उसने हैदराबाद के आर्य सत्याग्रहियों को स्वतन्त्रता सेनानी घोषित किया है। मन में आता है कि कहें—‘देर आयद दुस्त आयद’। पर फिर यह कहावत भी ध्यान आती है—‘जस्टिस डिलेड, जस्टिस डिनाइड’—जब न्याय मिलने में विलम्ब हो जाय तो समझना चाहिए कि न्याय देने से इन्कार कर दिया गया। फिर

भी हम भारत के युवा प्रधानमन्त्री को धन्यवाद देते हैं कि इस अन्याय के परिमार्जन का श्रेय भी उन्हीं को मिला है। जो काम उनकी जननी और उनके नाना नहीं कर सके, वह काम उन्होंने कर दिखाया। उन सब लोगों के प्रति भी आर्य-सत्याग्रहियों की ओर से शतशः आभार जिनके प्रयत्न से इस अभियान में सफलता मिली। यदि बचे-खुचे कुछ लोग भी इस निणय से लाभान्वित हो सकें, और अपने बार्धक्य में कुछ राहत की सांस ले सकें तो उनका आत्मा की ओर से निकलने वाला आशीर्वाद ही इस निर्णय के कर्ताओं का सबसे बड़ा पुरस्कार होगा।

पर क्या सरकारी नौकरशाही इन वृद्ध स्वतन्त्रता सेनानियों को आसानी से राहत की सांस लेने देगी? इसका उत्तर स्वयं सरकार को ही देना होगा। अन्यथा यह वरदान भी केवल अभिशाप बनकर रह जाएगा। □

[२४ नवम्बर १९८५ ई०]

ये ताकतें फिर सिर उठाने लगीं

पिछले दिनों दो ऐसे चिंताजनक समाचार मिले हैं जिनके परिणाम को देखते हुए समस्त राष्ट्रवासियों को सावधान होने की आवश्यकता है।

पहला समाचार तो यह है कि आगामी वर्ष ईसाई धर्माध्यक्ष पोप पाल के भारत आगमन पर पूर्वांचल के पादरियों ने एक लाख आदिवासी बन्धुओं का धर्मान्तरण कर और उन्हें ईसाई बनाकर पोप पाल को भेंट करने का निश्चय किया है। इतनी बड़ी संख्या में 'नई भेड़ें' पाकर कौन 'गड़रिया' खुश नहीं होगा ?

ईसाई पादरियों ने यह महत्वाकांक्षी अद्भुत स्वागत योजना किस बूते पर बनाई है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उनके पाप न धन की कमी है, न अन्य साधनों की। अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास सोसायटी की ओर से बाढ़ आदि संकटों में सहायता के नाम पर जितनी सामग्री और धन आता है, उसका कितना बड़ा भाग गरीब आदिवासियों के धर्मान्तरण के काम आता है, यह जानकर लोगों से छिपा नहीं है। भदर टेरेसा की उदारता का और निष्काम सेवा का ढोल जिस प्रकार सारे संसार में पीटा जाता है और उनके पास सभी ओर से धन खिंचा चला आता है, उसकी भी अन्तिम परिणति अपने रोगियों का ईसाईकरण होती है, इसके प्रमाण अनेक बार सामने आ चुके हैं।

इसके अलावा इस राजनीतिक पहलू को भी नजरन्दाज नहीं

किया जा सकता कि जब अमरीका के राष्ट्रपति रीगन प्रधान-मन्त्री श्री राजीव गाँधी से वार्तालाप के बाद उन्हें और उनकी मार्फत पूरे भारत को पूरी तरह अपना वंशवद नहीं बना सके, तब उन्होंने भारत पर दबाव डालने के लिए पाकिस्तान को अत्यन्त आधुनिक नए हथियार देकर कश्मीर की सियाचिन अघित्यका में आक्रमण के लिए उकसाया, और साथ ही चीन को भी पाकिस्तान की सहायता के लिए सन्नद्ध किया। पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बनाए जाने के विरुद्ध उन्होंने चेतावनी पाकिस्तान के बजाय भारत को दी और कहा कि पाकिस्तान से जल्दी से जल्दी समझौता कर लो, अन्यथा कहीं बहुत देर न हो जाए। इसी अन्तराष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति के संदर्भ में पोप पाल के भारत आगमन को और पूर्वांचल के पादरियों द्वारा एक लाख आदिवासियों के धर्मान्तरण को देखा जाना चाहिए और तब उसके भयावह परिणाम का अनुमान लगाना चाहिए। तभी यह समझा जा सकता है कि अन्दर ही अन्दर कैसा भीषण षड्यन्त्र चल रहा है।

एक तरफ यह भीषण षड्यन्त्र है, दूसरी ओर 'मोतियों वाली हमारी भोली भारत सरकार पोप पाल के स्वागत में पलक-पांवड़े बिछाए उनकी सरकारी मेहमानवाजी को आतुर है। पोप पाल आएँ, हमारे सिर आँखों पर, भारत अपने परम्परा-प्राप्त आतिथ्य-प्रभ से पीछे हटने वाला नहीं है। पर यदि घर में आया कोई मेहमान उस घर के निवासियों की अपने धर्म और राष्ट्र के प्रति वफादारी ही बदलने की कोशिश करे, तो वह कैसा मेहमान ! भारत अतित में भी ऐसी भोली बेवकूफियाँ कर चुका है और उसका दुष्परिणाम भुगत चुका है। क्या अब भी हमको अक्ल नहीं आएँगी ?

दूसरा समाचार यह है कि जिस ७५ वर्षीया मुस्लिम खातून इन्दौर वासी, शाहबानो की याचिका पर फैसला देकर उच्चतम न्यायालय ने समस्त मुस्लिम महिलाओं को अत्याचारों से बचाने के लिए अपना सुविचारित फैसला दिया था, उस फैसले के विरुद्ध 'बनातवालों' और जमातवालों ने कोहराम मचाकर 'इस्लाम खतरे में' का नारा लगाया और अहले-इस्लाम के अनुयायियों को भड़काया। उसके दबाव में शाहबानो भी आ गई और अब उसने उच्चतम न्यायालय से अपील की है कि वह अपना फैसला वापिस ले ले। गोया उच्चतम न्यायालय भारत की सर्वोच्च न्यायपीठ न होकर शाहबानो का बंधुआ मजदूर है, जो उसके इशारे पर ही काम करता है। क्या देश का कानून मियां-बीबी के झगड़े की तरह 'आज कलह-कल सुलह' की तरह भावनाओं के ज्वार और भटे की तरह चलता है? जिस निर्णय की देश से सभी बुद्धिजीवियों ने और प्रगतिशील मुसलमानों ने भी प्रशंसा की थी, जिस निर्णय से सभी मुस्लिम औरतों ने शाहबानो को अपना मुक्तिदाता माना था, और जिस निर्णय के समर्थन में केन्द्रीय राज्यमन्त्री श्री मुहम्मद आरिफ खान ने संसद में अपने तर्कों से बनातवालों और जमातवालों के मुँह बन्द कर दिए थे, अब उसी निर्णय को वापिस लेने का आग्रह और वह भी स्वयं शाहबानो की तरफ से? जरूर दाल में कुछ काला है।

शाहबानो ने प्रेस कान्फ्रस में कहा तो यह है कि मैं किसी दबाव में आकर यह वक्तव्य नहीं दे रही हूँ पर जिस प्रकार वह वक्तव्य देने के समय मुस्लिम कठमुल्कों से घिरी हुई थीं, उसी से पता लगता था कि वह किसी दबाव में हैं या नहीं। दास खें काला इससे भी पता लगता है कि शाहबानो ने अपना

केस उच्चतम न्यायालय से वापिस नहीं लिया है और उसके भूतपूर्व खाविन्द मोहम्मद अहमद खान ने कहा है कि मैं तो सुप्रीम कोर्ट के निर्णय से बैधा हुआ हूँ और उस निर्णय के अनुसार जितनी रकम मुझे शाहबानो को देनी है, वह मैं दे रहा हूँ। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कठमुल्लों ने शाहबानो के पति को समझाया कि तुम क्यों अनावश्यक बखेड़ा खड़ा करते हो, अदालत जितनी रकम देने को कहती है वह दे-दा के नक्की करो और इधर शाहबानो को समझाया कि तुझे तो इतनी रकम मिल ही रही है तेरा उद्देश्य पूरा हो गया फिर तू शरियत के मामले में क्यों टाँग अड़ाती है, शरियत पर हमारा ही कब्जा रहने दे—आखिर हमें भी अपनी रोजी-रोटी चलानी है।

शाहबानो बिचारी बुढ़िया ! उसे दया आ गई। और वह अपने ही बमन किए हुए को दुबारा निगलने को तैयार हो गई। पर शाहबानो यह भूल गई कि आज जो कठमुल्ले अल्लाह और रसूल की दुहाई देकर मजहब के ठेकेदार बन रहे हैं, उनमें से एक भी उस समय अल्लाह और रसूल के नाम पर उसकी तरफदारी करने नहीं आया था जब ४३ साल पहले उसके पति ने तीन बार 'तलाक तलाक तलाक' कह कर उसे घर से निकाल दिया था और उसकी किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता करने से इन्कार कर दिया था। तब शरियत कहाँ गई थी ?

सच बात तो यह है कि मुस्लिम समाज की, खास तौर से भारतीय मुस्लिम समाज की, बागडोर सदा ऐसे कठमुल्लों के हाथ में रही है, जो मुस्लिम समाज को कभी बीसवीं सदी के प्रकाश में नहीं आने देना चाहते। क्योंकि इससे उन्हीं के अस्तित्व

पर आँच आती है। इसीलिए वे अपने कठमुल्लेपन को राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं और बनातवाले और जमातवाले इन्हीं कठमुल्लों के भरोसे अपनी राजनीति चलते हैं। क्या पाठकों को यह याद दिलाने की आवश्यकता है कि इन्हीं कठमुल्लों ने कभी सर सैयद अहमद खाँ का और उनके द्वारा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के खोले जाने का विरोध किया था, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि मुसलमानों की नई पीढ़ी आधुनिक शिक्षा से दीक्षित हो ? खास तौर से उन्हें अंग्रेजी और विज्ञान की पढ़ाई से दुश्मनी थी। आज यह बात आश्चर्यजनक लग सकती है, पर इतिहासविदों से यह बात छिपी नहीं है। आज पाकिस्तान के जितने भी वैज्ञानिक, इंजिनियर, डाक्टर और उच्च शिक्षाप्राप्त लोग हैं वे प्रायः सबके सब अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की ही देन हैं (पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जियाउल हक दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कालेज की देन हैं)।

विज्ञान की कसौटी पर जिनका धर्म खरा नहीं उतरता, वे लोग सदा विज्ञान की रोशनी से घबराते हैं। ईसाइयत और इस्लाम का इतिहास विज्ञान-विरोधी मान्यताओं के कारण किए गए अत्याचारों से भरा पड़ा है। अरब के शहजादे को भी अन्तरिक्ष में उड़ान भरने पर ही 'ऊपर से पृथ्वी गोल दिखती है, कहने का साहस हुआ, क्योंकि जमीन पर बैठकर कठमुल्ले लोग उसकी बात को नहीं सुनने देते।

जब किसी धर्म को मानवीयता, सहज प्राकृतिक न्याय और देश के संविधान से ऊपर मान लिया जाता है, तब वह धर्म अपने अनुयायियों को मानव-द्रोह, न्याय-द्रोह और देश-द्रोह की ओर अनायास प्रेरित करने लगता है। ऐसा धर्म एक समानांतर

कानून व्यवस्था बनाकर धर्मराज्य स्थापित करना चाहता है और इस तरह अपने अनुयायियों को कठमुल्लेपन के गढ़े से उबरने नहीं देता । वम्बई में दो लाख मुसलमानों द्वारा उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरोध में विशाल प्रदर्शन मुस्लिम समाज के इसी अभिशाप का द्योतक है ।

अब इस्लाम और ईसाइयत की ऐसी ताकतें फिर सिर उठाने लगी हैं । □

[१ दिसम्बर १९८५ ई०]

आखिर हिन्दू कोई है भी ?

लगभग ३ सप्ताह पहले कलकत्ता उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया है कि रामकृष्ण मिशन के अनुयायी हिन्दू नहीं हैं। इस निर्णय से जहाँ भारत की समस्त जनता चौंकेगी वहाँ इसके दूरगामी परिणाम होने की संभावना है। बात बहुत छोटी सी थी। पश्चिमी बंगाल में राहुरा में एक कालेज है इसका नाम है रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द सेण्टीनरी कालेज। इस कालेज के अध्यापकों ने कालेज की प्रबन्ध समिति पर यह अभियोग लगाया कि वह पश्चिमी बंगाल के कालेज अध्यापकों की सेवा-सुरक्षा के लिए बनाये गये ऐक्ट का उल्लंघन कर रही है। उत्तर में प्रबन्ध समिति ने यह कहा कि रामकृष्ण संप्रदाय के अनुयायी केवल वेदों में विश्वास नहीं रखते, बल्कि ससार के सभी धर्म ग्रन्थों को सत्य मानते हैं, इसलिए हम हिन्दू समाज का अंग नहीं हैं और अल्पसंख्यक हैं। वह सरकारी कानून हम पर लागू नहीं होता और हम अल्पसंख्यकों को मिलने वाली रियायतों के अधिकारी हैं।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने रामकृष्ण मिशन का तर्क स्वीकार करते हुए यह निर्णय दिया कि रामकृष्ण मिशन के अनुयायी अपने-आपको हिन्दुओं का कोई सुधारवादी सम्प्रदाय नहीं मानते, वे तो विश्व धर्म का प्रचार करते हैं। वे न तो हिन्दू आचार शास्त्र का पालन करते हैं और न ही जाति प्रथा को मानते हैं। इसलिए इनको हिन्दू मानना उचित नहीं।

भारतीय अदालतों की न्यायप्रियता विख्यात है, इसलिए न्यायाधीशों के निर्णय पर हम कोई आपत्ति नहीं करते। पर रामकृष्ण मिशन के अनुयाइयों ने अपनी एक छोटी-सी शिक्षा संस्था पर अपना स्वेच्छाचार कायम रखने के लिए व्यापक राष्ट्रीय-हित को जिस प्रकार तिलांजलि दे दी है, यह देख कर आश्चर्य होता है। महाकवि कालिदास के शब्दों में :—

अन्यस्य हेतं बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढाः प्रतिभासि मे त्वम्॥

—छोटे से स्वार्थ के लिए बड़े और व्यापक हित की उपेक्षा करना विचार-मूढ़ता के सिन्धु और क्या है ?

उच्च न्यायालय के निर्णय ने और रामकृष्ण मिशन के अनुयायियों के तर्क ने कुछ उलझन भरे प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं। सबसे पहला प्रश्न तो यही है कि हिन्दू कौन हैं ? हिन्दू-शब्द की अभी तक कोई सर्वमान्य परिभाषा दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके भी कई ऐतिहासिक कारण हैं। कभी लोकमान्य तिलक ने हिन्दू की परिभाषा करते हुए 'वामाण्यबुद्धिर्वेदेष उपासनात्म-नेकता'—अर्थात् चारों वेदों को प्रमाण मानना और किसी एक देव के बजाय अनेक इष्ट देवों की उपासना की छूट देना—हिन्दुत्व का लक्षण बताया था। उसके बाद वीर सावरकर ने—

आ सिन्धु सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।

पितृभूः पुण्यप्रश्चैव स वै हिन्दूरिति स्मृतः॥

—अर्थात् सिन्धु नदी के उद्गम से लेकर हिन्द महासागर तक और पश्चिम सागर से लेकर पूर्व सागर तक भारत भूमि को जो अपनी पितृभूमि और पुण्य भूमि मानता है, वह हिन्दू

है। राष्ट्रीय स्तर पर यह व्याख्या सही हो सकती है पर जो लोग भारत छोड़ कर संसार के अन्य देशों में जा बसे हैं और उन्होंने वहाँ की नागरिकता ग्रहण कर ली है उनके लिए हिन्दुत्व की इस परिभाषा को स्वीकार करना कठिन हो जायेगा।

सच तो यह है कि अब से ७ सौ वर्ष से पूर्व, हमारे किसी ग्रन्थ में हिन्दू शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। इस शब्द की व्युत्पत्ति को 'सिन्धु' और 'सप्त सिन्ध' के साथ कितना ही जोड़ा जाय, और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से फारसी में स के ह बन जाने वाली बात भी कितनी ही सही क्यों न हो, किन्तु यह भी सही है कि आज तक सिन्धु नदी को किसी ने 'हिन्दू नदी' का नाम नहीं दिया। 'कुलार्णव तन्त्र' में और 'बार्हस्पत्य शास्त्र' में हिन्दू शब्द की जो परिभाषाएँ की गयी हैं वे भी निश्चित रूप से अवान्तर-कालीन हैं। प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र 'आर्य' शब्द का ही उल्लेख है। स्वयं काशी के पौराणिक पंडितों ने भी 'हिन्दू' बजाय के आर्य शब्द का समर्थन किया है। इस तथ्य से इन्कार करना कठिन है कि भारत के बाहर से आये लोगों ने हमको हिन्दू नाम दिया और हमारे देशवासियों ने उसे स्वीकार कर लिया। जिस तरह अंग्रेजों ने आकर 'इण्डिया' और 'इण्डियन' शब्द दिये (उनके मूल में भी हिन्दू शब्द की ध्वनि है), किन्तु जिस प्रकार हमने अंग्रेजी भाषा में अंग्रेजों द्वारा दिये गये उक्त दोनों शब्द स्वीकार कर लिए, वैसे ही बाहर से आये लोगों द्वारा दिये गये हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान आदि शब्द भी हमने स्वीकार कर लिये। (हिन्दी भाषा के लिए हिन्दी शब्द भी सबसे पहले मुसलमानों ने ही प्रयुक्त किया।) इसका कारण हम अपने देश के निवासियों की उदारता कहें या ऐसी चीजों के प्रति उपेक्षा-

वृत्ति धारण करने का एक सामान्य भारतीय स्वभाव कहें, लेकिन वह है।

इस त्रिवेचन से यह बात भी स्पष्ट होती है कि हिन्दू शब्द किसी संप्रदाय-विशेष का या धर्म विशेष का द्योतक न होकर हम देश के निवासियों को परिभाषित करने वाली एक समूह-वाची या जातिवाची संज्ञा (क्लेक्टिव नाउन) है। इस शब्द का सम्बन्ध धर्म के साथ उतना नहीं था, जितना देश के साथ था। हिन्दू का असली अर्थ हुआ हिन्द देश का निवासी। पर जब मुस्लिम आक्रमणकारों इस देश में आये तो उनकी समस्त प्रवृत्तियों का प्रेरणास्त्रोत उनका इस्लाम मजहब था (जिसका धर्म ग्रन्थ "कुरान" है) और उसी की प्रेरणा से वे दिग्विजय के लिए निकले थे। उनका सारा जीवन मजहब के दायरे में बँधा हुआ था। इसलिए उन्होंने इस देश के निवासियों को अपने से और इस्लाम से अलग करने के लिए हिन्दू शब्द को भी धर्म के साथ जोड़ दिया।

हिन्दू शब्द को धर्म के साथ जोड़ने पर भी एक बात कायम रही और वह यह कि प्रत्येक हिन्दू के मन में अपने देश के प्रति और अपनी मातृ भूमि के प्रति एक विशेष लगाव बना रहा। इसी लगाव को वीर सावरकर ने 'पुण्य भूः और 'पितृ भूः' के विशेषणों से सम्बोधित किया है। प्रत्येक हिन्दू के मन में इस देश के प्रति एक विशेष ममता उसके जीवन का अङ्ग है। इसीलिए वह अपनी प्रार्थनाओं में सप्त नदियों, सप्त पुरियों और सप्त पर्वतों को शामिल करके सारे देश को उसमें समेट लेता है। जब कोई अपने-आपको गैर-हिन्दू कहता है, तब क्या वह यह कहना चाहता है कि इस देश के प्रति उसका उतना

ममत्व नहीं है ? कोई वेद को भले ही अपना धर्म ग्रन्थ न माने, परन्तु यदि वह यह स्वीकार करता है कि वेद के रूप में इस देश के निवासियों को अपने प्राचीन पूर्वजों की महान विरासत प्राप्त हुई है तो वह एक ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार करता है, केवल किसी धार्मिक ग्रन्थ को नहीं। जो अपने पूर्वजों की इस महान विरासत को उचित आदर देने से इन्कार करता है, वह एक तरह से अपने अस्तित्व से भी इन्कार करता है। क्योंकि हमारे पिता-पितामह आदि न होते तो आज हम ज्ञानवात् भी न होते। आदि गुरु, परमात्मा और आदि ज्ञान वेद ही तो समस्त मानव जाति की अद्भुत और महनीय विरासत है। हम उस विरासत को अस्वीकार करके अपना ही अहित करते हैं, किसी और का नहीं।

फिर रामकृष्ण मिशन वाले जिन उपनिषदों पर इतना अधिक बल देते हैं, क्या बिना वेद को आधार बनाये उन उपनिषदों का कहीं अस्तित्व रहेगा ? क्या किसी को यह बताने की आवश्यकता है कि सबसे मुख्य उपनिषद—‘ईशोपनिषद’—यजुर्वेद का ४० वा अध्याय ही है। जो इस उपनिषद को माने और वेद को न माने, उसको आप क्या कहेंगे ?

जहाँ तक रामकृष्ण मिशन वालों ने अपने आपको हिन्दू आचार शास्त्र को न मानने वाला कहा है, वहाँ भी वे आत्म-वंचना से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। ‘मनुस्मृति’ आचार शास्त्र का सबसे प्रधान ग्रन्थ है और उसमें धर्म के १० लक्षण कहे गये हैं—‘धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्’ इत्यादि। हम समझते हैं कि उस धार्मिक आचार का जिस प्रकार निष्ठापूर्वक पालन रामकृष्ण मिशन के संन्यासी करते हैं, उतना अन्य कोई हिन्दू शायद ही करता है।

रामकृष्ण मिशन वालों का यह कहना कि हम जाति-प्रथा को नहीं मानते, इसके सम्बन्ध में भी हमारा निवेदन यह है कि स्वयं आज तक हिन्दू नेताओं ने ही जाति प्रथा का जितना तीव्र विरोध किया है उतना अन्य किसी ने नहीं किया। यह जाति प्रथा वेदविहित नहीं है, यह तो मध्यकाल की देन है। इसलिए वह हिन्दुत्व का अङ्ग भी नहीं है। सच बात तो यह है कि धर्म-निरपेक्ष भारत सरकार ने धर्म-निरपेक्षता को कलंकित करते हुए जो अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार दिये हैं, वही गलत हैं। जब तक ये विशेषाधिकार रहेंगे तब तक ये अल्पसंख्यकों की मिलने वाली रियायतों के लिए न जाने कितनों की लार टपकती रहेगी ?

जिस सर्वधर्म समभाव की दुहाई रामकृष्ण मिशन देते हैं, वह भी हिन्दुत्व की ही देन है। हिन्दुओं के सिवाय संसार का अन्य कोई मतावलम्बी इस प्रकार की बात न कहता है न करता है पर रामकृष्ण मिशन के तथाकथित अनुयायियों के मन में यदि सर्वधर्म समभाव का यह अर्थ है कि कुरान और बाईबिल को भी वेद जैसा ही दर्जा देते हैं, तो क्या वे कुरान और बाईबिल की विज्ञानविरुद्ध बातों को भी—जिनको आज बुद्धिवादी मुसलमान और ईसाई भी मानने को तैयार नहीं—मान्यता देंगे ?

एक ओर रामकृष्ण मिशन वाले विश्व धर्म की दुहाई देते हैं और दूसरी ओर अपने-आपको अल्पसंख्यक सिद्ध करना चाहते हैं, तो 'विश्व' और 'अल्प' का यह मेल कैसे बैठेगा ? न अल्प-संख्यकों को संविधान के विरुद्ध ऐसी रियायतें मिलतीं जो बहु-संख्यकों को प्राप्त नहीं हैं, न रामकृष्ण मिशन वाले अपने-आपको अहिन्दू सिद्ध करने के लिए ऐसी कलागजियाँ खाते। क्षुब्ध स्वार्थों से विश्वकल्याण नहीं होता। परमात्मा उन्हें सुबुद्धि दे। □

[८ दिसम्बर १९५५ ई०]

यमराज के दूत

जीवनोपयोगी दवाइयों के आविष्कार और स्वास्थ्य-सेवाओं के विस्तार के कारण ज्यों-ज्यों मृत्यु दर कम होती गयी त्यों त्यों जनसंख्या में वृद्धि होती गई। इस जनसंख्या-वृद्धि से परेशान होकर राजनीतिक नेताओं ने परिवार-नियोजन का नारा लगाया। परन्तु उससे भी जब जनसंख्या में कमी नहीं आई तो यमराज के दूत घबराये। शायद उन्होंने सोचा होगा कि इसी तरह संसार की आबादी बढ़ती रही और मृत्यु दर कम होती तो हमारा सारा कारोबार ही ठप्प हो जायेगा। इसे विधाता का विधान कहें या संसार की नियति कहें—यमराज के दूतों ने यमलोक से उतर कर इस पृथ्वी-तल पर डेरा जमाया और आधुनिक विज्ञान के बल-बूते पर ऐसी जहरीली गैसों के बड़े बड़े कारखाने तैयार किये जिनसे संसार की आबादी को मिनटों में कम किया जा सके।

अब से एक वर्ष पूर्व भोपाल का यूनियन कार्बाइड का कारखाना यमराज के दूतों का वैसा ही प्रतिनिधित्व कर चुका है और अब दिल्ली में श्रीराम फर्टिलाइजर्स के कारखाने ने भी अपने यमराज के दूत होने का प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। अब से एक वर्ष पूर्व जब २-३ दिसम्बर की रात का भोपाल के कार्बाइड कारखाने से जहरीली गैस रिसी थी तो उसकी भयंकरता का शुरू-शुरू में किसी को अंदाज नहीं था। पर जब उसके परिणामस्वरूप देखते अढ़ाई हजार आदमी सदा के लिए

मौत की गोद में सो गये और करीब अढ़ाई लाख आदमी उनके घानक प्रभाव से प्रभावित हुए, तब पता लगा कि यह कितनी भयंकर त्रासदी थी ।

कहने वाले तो यह भी कहते हैं कि इस बहुराष्ट्रीय अमेरिकी कम्पनी के कारखाने में ऐसी जहरीली-गैस तैयार करने का परीक्षण किया जा रहा था जो महायुद्धों के समय बड़े पैमाने पर जनसंहार के काम आ सके । गैस रिसने की दुर्घटना अगर न होती तो इस गोपनीय षड्यन्त्र का पता भी न लगता । पर अब भेद खुल गया तो शायद मन ही मन यमराज के दूत प्रसन्न हुए होंगे कि हमने संसार की जनसंख्या को कम करने का एक कारगर उपाय ढूँढ़ निकाला ।

यों गरीब देशों के निवासी तथा कृषित्त विकसित देशों की दृष्टि में सदा आसान तोपों का चारा (गन फौडर) रहे हैं । युद्धों में उन्हें तोपों के चारे की तरह ही झोंका जाता रहा है । वैज्ञानिक लोग जिस तरह अपनी दवाइयों के परीक्षण बूढ़ों, खरगोशों और बन्दरों पर करते हैं उसी तरह बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी नई उपलब्धियों का परीक्षण गरीब देशों के निवासियों पर करें, तो क्या आश्चर्य है । इससे डबल लाभ भी तो होता है ! कम्पनी के मालिकों को आर्थिक लाभ और गरीब देश को अपनी जनसंख्या कम करने का लाभ !

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का जैसा जाल बिछता जा रहा है और जिस तरह राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके गरीब देशों की सरकारें उन्हें बढ़ावा दे रही है, उससे ऐसा लगता है कि कोई बहुत गहरा अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र है जो गुप्त-चुप ढंग से मानवता के विशद्व चल रहा है और उस षड्यन्त्र में जाने-अनजाने हम

फँसते जा रहे हैं। यूनिन कार्बाइड के कारखाने के सम्बन्ध में कम्पनी के मालिकों का और मध्यप्रदेश शासन का जैसा रवैया रहा है उससे मिलीभगत की आशंका होती है। पहले कहा गया कि रिसने वाली गैस फोसजीन थी, फिर कहा गया कि नहीं, वह मिक् गैस थी। परन्तु पीछे जानकर लोगों ने बताया कि २५० डिग्री सेण्टीग्रेड के तापमान पर मिक् गैस विघटित होकर हायड्रोजन सायनाइड में बदल गयी थी। सायनाइड का विष अरुणी प्राणघातकता के लिए विश्वविख्यात है। जब तक यह पता न लगे कि वह कौन-सी गैस थी, तब तक उसका इलाज भी कैसे हो। पर जब यह पता लग गया कि वह सायनाइड थी तो इस बात को छिपाने का प्रयत्न किया गया और उसके बारे में जान बूझकर विवाद उत्पन्न कर दिया गया जब वेस्ट वर्जिनिया (अमेरिका) स्थित यूनिन-कार्बाइड के मुख्यालय से ही यह गलती हो गई। उसकी ओर से कहा गया कि सायनाइड के असर को दूर करने के लिए सोडियम थायोसल्फेट का इंजेक्शन दिया जाना चाहिए, तो एक तरह उस गैस के सायनाइड होने की तो पुष्टि हो गई परन्तु तब उसके आर्थिक और कानूनी परिणामों को सोचकर यूनिन कार्बाइड के मुख्यालय ने अपना वह बयान वापस ले लिया। बाद में जिन डाक्टरों ने मरीजों की ये इंजेक्शन दिये उनको लाभ भी हुआ। इन इंजेक्शनों से होने वाले लाभ से जब यह बात लगातार प्रमाणित होने लगी कि रिसने वाली गैस सायनाइड ही थी तो वे इंजेक्शन देने रोक दिये गये। हालांकि एक इंजेक्शन की कीमत सिर्फ १२ पैसे पड़ती है, पर आज तक वे इंजेक्शन ढाई लाख गैस पीड़ित में से केवल ५ हजार लोगों को ही दिये जा सके हैं। आश्चर्य की बात यह है कि मन्त्रियों ने, सरकारी अधिकारियों

ने और धनपतियों ने गैस वासदी के तुरन्त बाद इन इन्जेक्शनों को लगवाना जरूरी समझा, किन्तु गरीब लोगों को इन्जेक्शन देने में उपेक्षा शुरू हो गयी। और तो और, मध्यप्रदेश सरकार ने ऐसे कुछ स्वयंसेवी क्लिनिक भी बन्द करवा दिये जो गैस पीड़ितों को यह इन्जेक्शन लगाने की सेवा कर रहे थे। इन सरकारी अधिकारियों में से कितने अधिकारी और उनकी पत्नियाँ यूनियन कार्बाइड की ओर से अमेरिका की सैर कर आये, इसका कुछ पता नहीं। लेकिन इन सबसे मिली-भगत की पुष्टि तो होती है।

भोपाल के कांड को छोड़िये। उसे तो अब एक वर्ष हो चुका। नियति का चक्र देखिए कि जिस दिन उस काण्ड को एक वर्ष पूरा हुआ उससे अगले दिन ही श्रीराम फूड्स एण्ड फर्टिलाइजर कारखाने से जहरीली गैस रिसी। यह गैस मिक् या सायनायड नहीं थी, ओलियम थी। यः उतनी भयंकर भी नहीं थी। पर उससे लोगों में भगदड़ मच गयी। अभी तक इस गैस से मरने वालों की संख्या तीन से अधिक नहीं है। पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि वह मनुष्यों पर कोई दया करने वाली गैस थी।

हमने ऊपर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और गरीब देशों के बड़े लोगों की मिली-भगत की आशका की चर्चा की है। पर दिल्ली वाला कारखाना तो अमेरिकी कम्पनी द्वारा निर्मित नहीं था और न ही वहाँ कीटनाशक दवाई तैयार हो रही थी। यह कारखाना तो रासायनिक खाद बना रहा था और इसके निर्माता ऐसे लोग हैं जिनका भारत के उद्योगीकरण में काफी योगदान है। भोपाल काण्ड के लिए हम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दोष

दे सकते हैं; परन्तु खाद बनाने वाले और अपने ही लोगों द्वारा निर्मित इस कारखाने के बारे में क्या कहें ? यह ठीक है कि भोपाल कांड के बाद यूनियन-कार्बाइड कारखाने को और दिल्ली कांड के बाद इस फर्टिलाइजर कारखाने को सरकार ने बन्द करने का आदेश दिया है। परन्तु क्या इतने मात्र से यमराज के दूतों का खेल खत्म हो जायेगा ? स्वयं दिल्ली सरकार के रजिस्टर में ऐसे ११२ कारखानों के नाम दर्ज हैं जिनमें इसी प्रकार की घातक चीजें तैयार हो रही हैं और वे सब कारखाने प्रायः धनी बस्तियों के बीच में ही हैं। अगर विदेशी लोग गरीब भारत-वासियों को तोप का चारा समझते हैं तो भारत सरकार भी तो अपने देशवासियों को शायद उससे अधिक दर्जा नहीं देती। इस प्रकार के कारखाने अन्य देशों में भी हैं। पर वहाँ जनता की सुरक्षा का जैसा प्रबन्ध किया जाता है उस तरह की व्यवस्था सरकार की और उद्योगपतियों की लापरवाही के कारण इस देश में नहीं होती।

चाहे भोपाल हो, चाहे दिल्ली हो, चाहे कीटनाशक दवाइयाँ तैयार करनी हों, चाहे रासायनिक खाद तैयार करना हो, इन सबके पीछे कृत्रिम ढंग से कृषि की पैदावार बढ़ाने का अभियान काम कर रहा है। पर उसके पीछे एक दृष्टि-दोष है जिसे शायद हम नहीं समझ पा रहे हैं। खेती की पैदावार बढ़ाना आवश्यक है, परन्तु उसके लिए पश्चिम की नकल करके पश्चिम के ही साधन हमने अपनाने शुरू किये हैं। उससे ऐसा लगता है कि इक्कीसवीं सदी में पहुँचने की जल्दी में हमने आधुनिक तकनीक का जो बहु-विज्ञापित 'छोटा रास्ता' अपनाया है वह रास्ता ही खतरे की जड़ है। नीतिकारों का कहना है—“यस्य

देशभ्य यो जन्तुः तज्जं तस्यौषधम् हितम्"—जिस देश का जो प्राणी है उसके लिए उसी देश में उत्पन्न हुई औषधि हितकारक है। हमने अपने देश के कृषि के साधनों की, और गोबर और गोमूत्र आदि स्वाभाविक खाद की उपेक्षा करके रासायनिक खाद और रासायनिक कीटनाशक दवाओं को अपना कर जो खतरनाक जीवन-पद्धति अपना ली है, उससे यम के दूतों का द्वार खुल गया है। हम अपनी जड़ से कटते जा रहे हैं। हमने अपने ग्रामोद्योगों, सिंचाई के साधनों और खेती के उपकरणों की उपेक्षा करके जो तकलीफें बन्दर का रोल अपनाया है, उससे इस प्रकार की त्रासदियौं सदा हमारे सिरे पर लटकती रहेंगी। हमें कोई ऐसा उपाय-सोचना पड़ेगा कि आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का लाभ भी उठा सकें और अपने देश में सदियों से आजमाये गये रास्तों को भी न छोड़ें। दोनों के सहो सन्तुलन में ही हमारा सहो भविष्य निर्भर है। जब तक यह असन्तुलन रहेगा तब तक यम के दूत प्रसन्न ही होंगे। □

[१५ दिसम्बर १९८५ ई०]

यह आस्थाहीन पीढ़ी

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द ने एक जर्मन लेखक द्वारा लिखी गयी पुस्तक “दि हिस्ट्री आफ ऐसेसिस” के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में श्रद्धा शब्द की व्याख्या की है : ‘श्रत् सत्यम् दधाति सा श्रद्धा।’ वास्तव में श्रद्धा का मूल सत्य है। इस कल्प के प्रारम्भ में मानव के आदि काल में वेदों के रूप में जो सत्य व्यक्त किया गया था उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। वेद से लेकर उपनिषद् काल तक श्रद्धा का अखण्ड साम्राज्य रहा। परन्तु उसके पश्चात् पतन प्रारम्भ हो गया तथा पाखण्डी धर्म गुरुओं ने भोले-भोले लोगों की श्रद्धालुता का लाभ उठाकर उन्हें अन्धविश्वास के गर्त में धकेल दिया और उन्हें सत्य से दूर ले गये। सहस्रों वर्षों तक भारत में सत्य का बोल-बाला रहा, परन्तु महाभारत काल में जब भाई भाई के खून का प्यासा बन गया तब कौरवों की कूटनीति के कारण सत्य पर असत्य हावी हो गया मानवता पर पशुता छा गयी तथा ज्ञान और भक्ति का सिंहासन डावांडोल हो गया। जिस भारत ने सत्य की पवित्रता का सन्देश सारे विश्व में फैलाया था उसी भारत के रहने वाले लोगों ने अन्धविश्वास के कारण सारी जाति को अज्ञान के अन्धकार में धकेल दिया।’

यह लिखने के बाद यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के ३० वें मन्त्र में श्रद्धा को सत्य की सीढ़ी बताते हुए उन्होंने यह मन्त्र उद्धृत किया —

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

उसके बाद के पृष्ठों में कट्टरपंथी पादरियों और मुस्लिम हमलावरों द्वारा धर्म परिवर्तन के लिए किये गये अत्याचारों के ऐतिहासिक उदाहरणों की चर्चा है ।

श्रद्धा के सम्बन्ध में यह लिखने का तात्पर्य है कि स्वामी श्रद्धानन्द का सारा जीवन इसी को केन्द्रबिन्दु बनाकर उसके चारों ओर घूमता है । संन्यास ग्रहण करते हुए स्वयं उन्होंने यह बात स्वीकार की थी और कहा था कि आज तक मैं अपना सारा जीवन ऋषि दयानन्द के वचनों पर आस्था रख कर बिताने का प्रयत्न करता रहा हूँ, इसलिए मैं अपना नाम 'श्रद्धानन्द' ही रखना चाहता हूँ । ऋषि के प्रति वे कितने आभारी थे इसका उदाहरण 'कल्याण मार्ग के पथिक' के आमुख में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखित इन पक्तियों से मिलता है—

‘ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष (यह आज से ६१ वर्ष पहले लिखा गया था—सं०) हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पट पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित है । मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मा की रक्षा की । तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की कायापलट दी, इसकी गणना कौन कर सकता है ? परमात्मा के बिना जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है ? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे इस सहवास ने मुझे

कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा लाभ करने के लिए योग्य बनाया।”

जिस संकट व परीक्षा की घड़ी से इस समय देश गुजर रहा है, उसमें कोई असामान्य बात नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में किसी भी देश को संक्रान्ति-काल में इनका सामना करना पड़ता। परन्तु जिस कारण यह बोझ असह्य मालूम पड़ता है, वह यह है कि इसको सहन करने योग्य हम में आत्मिक बल का अभाव है। आज की पीढ़ी में न विश्वास है, न कोई ऐसी वस्तु है, जिस पर हम अपना विश्वास टिका सकें। सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के बिखरने के साथ पुराने मूल्य भी बिखरते जा रहे हैं। परन्तु उनके स्थान पर नये मूल्य नहीं आये। आज धर्म एक स्वांग रह गया है और प्राचीन परम्पराएँ, जिनमें राष्ट्र की आशा और आकांक्षाएँ तथा उसका आदर्श निहित हैं, उनके प्रति अत्यन्त उपेक्षा के साथ मुँह फेर लिया गया है। आज आध्यात्मिक खोखलापन बौद्धिक उच्चता का चिह्न बन गया है। सच्चे मन से की गई शंका भी आधे मन से अपनाये गये विश्वास से अच्छी होती है और समाज में अनास्थावादियों के लिए भी स्थान होता है। परन्तु जब सारा का सारा राष्ट्र और खास तौर से उसका प्रबुद्ध वर्ग अनास्थावादी और निराशावादी हो जाय तो वह चिन्ता का विषय बन जाता है। यह स्थिति मानसिक स्वास्थ्य की द्योतक नहीं है। राष्ट्र निर्माण के बड़े से बड़े प्रयत्न इस अनास्था की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जायेंगे। गीता के शब्दों—“सशयात्मा विनश्यति”—में एक ठोस सत्य छिपा हुआ है। जिस मनुष्य को निरन्तर शंकाएँ घेरे रहती हैं, उसका नाश अवश्यम्भावी है।

आज जीवन में सफलता के लिए जिस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है उसमें किसी ऐसे आदर्श की स्थापना नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए कोई आत्मोत्सर्ग कर सके। आदर्श के इस अभाव के कारण ही एक गहन मानसिक शून्यता चारों ओर छायी हुई है। यह सत्य है कि हमारे नेताओं ने लोक कल्याणकारी राज्य की कल्पना की है और उसमें गरीबी हटाने और सबके लिए भोजन- वस्त्र मकान, चिकित्सा और शिक्षा आदि की व्यवस्था का प्रावधान है। ये सब बहुत अच्छी चीजें हैं और जीवन के लिए जरूरी भी हैं। परन्तु ये दैनिक जीवन की छोटी-छोटी आवश्यकताओं के ही ऐसे विस्तृत रूप हैं, जिनमें किसी आदर्श में निहित पवित्रता का अभाव है।

हमारे वर्तमान नेताओं की एक बहुत बड़ी सफलता यह मानी जाती है कि उन्होंने देश को धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना दी है। निस्सन्देह किसी भी राजा को धर्म-निरपेक्ष ही होना चाहिए। खासतौर से प्रजातन्त्र में अगर राजा अपना धर्म प्रजा पर लादना चाहे तो वह सर्वथा गलत होगा। परन्तु हमारे देश में तो साम्प्रदायिकता के हौवे ने धर्म-निरपेक्षता को धर्म के विरोध का समानार्थक बना दिया है। किसी भी मामले में यदि हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म की ओर संकेत भी किया जाय तो उसे शंका की दृष्टि से देखा जाता है। हम भारतीय संस्कृति के समन्वयकारी रूप की बात करते हैं। परन्तु यह भूल जाते हैं कि इसकी मुख्य धारा, जिसमें अनेक सहायक स्रोत भी सम्मिलित हैं, सरस्वती नदी के तट पर वैदिक ऋषियों के सामगान से ही फूट कर मानवोचित सभ्यता के प्रचार के लिए निकल पड़ी थी।

यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि भारतीय विचार जगत् के श्रेष्ठतम् तत्वों को जिन साधनों ने प्रेरणा प्रदान की, उनकी एक समन्वयकारी संज्ञा है—हिन्दुत्व-या वैदिक संस्कृति। इन्हीं तत्वों के आधार पर हमारे राष्ट्रीय जीवन का ताना-बाना बुना है और इसी आधार पर हम राष्ट्र के भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। इन तत्वों में एक नई मानवता के सृजन की कल्पना है जिसमें व्यक्ति समाज की चिन्ता करेगा और समाज व्यक्ति की चिन्ता करेगा। वह महान् सन्देश किसी एक जाति, धर्म, देश या राजनीतिक दल तक सीमित नहीं है बल्कि वह तो “यथेमां धानं कल्याणीभावदानि जनैः” की जन-जन का कल्याण करने वाला मंगलवाणी है।

आज के हमारे नेता पश्चिम की ओर मुंह करके हरेक विषय में उन्हीं से प्रेरणा लेने का प्रयत्न करते हैं। धर्म और संस्कृति का नाम भी वे लेते हैं, परन्तु स्वयं उनके प्रति कोई ऐसी आस्था दिखाई नहीं देती। आजादी के बाद के युग की यह सबसे बड़ी विडम्बना है। जिस युवा पीढ़ी पर देश का भविष्य निर्भर है, वह आस्थाहीनता की ओर अग्रसर है। उसमें किसी ऊँचे आदर्श के लिए कष्ट सहन की प्रवृत्ति का अभाव है। आज की इस आस्थाहीन पीढ़ी को स्वामी श्रद्धानन्द जैसे आस्थावान् और अपने जीवन को सत्य-परक श्रद्धा के केन्द्र बिन्दु पर आधारित करने वाले व्यक्तित्व की प्रेरणा की आवश्यकता है। यतिवर श्रद्धानन्द ! तुमने अपने गुरु के वचनों पर श्रद्धा करके अपने जीवन की आहुति दे दी। उस तेजोमय आस्था का एक कण आज की इस आस्थाहीन पीढ़ी को भी प्रदान कर दो जिससे इस देश का उद्धार हो। □

[२६ दिसम्बर १९८५ ई०]

